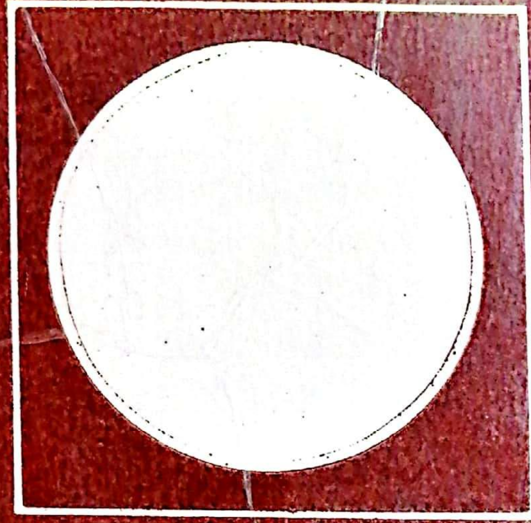


अस्तित्ववादी दार्शनिक

शीति जोशी



किताब महल

अस्तित्ववादी दार्शनिक



Astitvavadi darshanik

अस्तित्ववादी दार्शनिक

(नीत्शे, किर्कगार्ड, यास्पर्स, मार्सल, हाइडेगर तथा सार्त्र)

शांति जोशी Shanti Joshi

प्रयाग विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

Kitabmahal, Allahabad

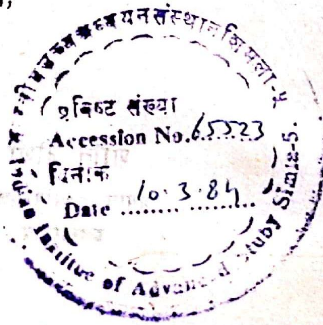
किताब महल



प्रथम संस्करण : 1983

मुख्य वितरक :

1. किताब महल एजेन्सीज, 84, के० पी० कक्कड़ रोड, इलाहाबाद
2. किताब महल डिस्ट्रीब्यूटर्स, 28, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–2
3. किताब महल एजेन्सीज, अशोक राज पथ, पटना
4. किताब महल एजेन्सीज, सेण्ट्रल बाजार रोड, रामदास पेठ, नागपुर





मूल्य : पन्द्रह रुपये



प्रकाशक : किताब महल, 15, थार्नहिल रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक : महेश प्रिन्टर्स, 6 चक, इलाहाबाद।

दो शब्द

अस्तित्ववादियों के भुक्त जीवन से उपजे हुए अस्तित्ववाद का आज, प्रत्येक संवेदनशील प्राणी के लिए एक अर्थ है। अस्तित्ववाद की जनप्रियता का यही रहस्य है कि यह मनुष्य के स्वातंत्र्य-बोध को व्यक्ति-सत्ता के संदर्भ में समझाने का प्रयास करता है। साथ ही इस युग की यंत्र-सभ्यता, सामूहीकरण एवं सामाजीकरण की प्रवृत्ति की सीमा को परिलक्षित करते हुए यह स्थापित करता है कि हम व्यक्ति की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं—व्यक्ति का स्वतंत्र सत्ता के रूप में अस्तित्व है। इसी दृष्टि से यह अमूर्त दर्शन का भी विरोध करता है।

व्यक्ति-सत्ता एवं व्यक्ति-स्वातंत्र्य का अस्तित्ववाद में क्या अर्थ है? क्या हम अस्तित्ववादी पीड़ा को मानवजाति की सामान्य पीड़ा मान सकते हैं? क्या व्यक्ति की जिन आवश्यकताओं, अभावों, निषेधों, आत्म-अलगाव, मृत्यु, त्रास, अतिक्रमण आदि की ओर अस्तित्ववादी ध्यान आकर्षित करते हैं, वे संपूर्ण अथवा समग्र मानव-अस्तित्व की सूचक है? ये कुछ वे ज्वलंत प्रश्न हैं जिनका समाधान किए बिना अस्तित्ववाद आगे नहीं बढ़ सकता है, उसको उसी की सीमा परिबद्ध कर देती है।

प्रमुख अस्तित्ववादियों के दर्शन अथवा विचारधारा को पाठकों के सम्मुख उनके दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने का मुख्य उद्देश्य यही है कि वे स्वयं अस्तित्ववाद के बारे में निर्णय लें—क्या अस्तित्ववादी विचारधारा उनकी दार्शनिक एवं तात्विक जिज्ञासा को संपूर्णता में संतुष्ट कर सकती है? क्या यह मानव अस्तित्व को उसकी गहराई और व्यापकता, समता और अतिक्रमणता में पाने के लिए हमें आकुल करती है? मुझे विश्वास है कि इन प्रश्नों का उत्तर हमें अस्तित्ववाद की सीमा और उपलब्धि से स्वतः ही परिचित कराएगा।

1 सितम्बर, 1983

शांति जोशी
18/बी-7 स्टेनली रोड
इलाहाबाद

अनुक्रमणिका

अस्तित्ववाद : सामान्य परिचय 1-14

अध्याय—एक

फ्रेडरिक नीत्शे 15-22

1. जीवन एवं स्वभाव 15, 2. शक्ति की आकांक्षा 16, 3. अतिमानव का सिद्धांत 17, 4. समस्त मान्यताओं का पुनर्मूल्यीकरण 18, 5. नैतिकता का मापदण्ड 18, 6. प्रभुओं और दासों की नैतिकता 19, 7. अस्तित्ववादी तत्व 20, 8. मूल्यांकन 21।

अध्याय—दो

सोरेन किर्कगार्ड 23-41

1. जीवन एवं महत्वपूर्ण घटनाएँ 23, 2. अमूर्त दर्शन का विरोध : सत्य आंतरिक एवं विषयीनिष्ठ है 25, 3. ईसाइयत का अर्थ : ईसाइयत प्रति ईसाइयत 28, 4. यूनानी दर्शन का प्रभाव 30, 5. समानता का विरोध : आत्म-अलगाव 31, 6. चिंता, विषाद, हताश आदि 32, 7. ज्ञान का पुनर्मूल्यांकन : आंतरिकता 34, 8. अस्तित्व और चिंतन 35, 9. अस्तित्व और वरण : आत्म-चरितार्थता 36, 10. मूल्यांकन 39।

अध्याय—तीन

कार्ल यास्पर्स 42-69

1. जीवन एवं व्यक्तित्व 42, 2. दर्शन का लक्ष्य : अस्तित्व को प्रकाशित करना 43, 3. सत्ता की खोज : अतिक्रमण के तीन प्रकार (दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र) 45, 4. तीनों प्रकारों की अनुकूलता 50, 5. सर्वसमावेशी : उसके दो प्रकार 51, 6. सर्वसमावेशी जो हम हैं : आनुभविक अस्तित्व, चेतना जैसी है (चेतना अपने मूल या सार्वभौम रूप में), आत्मा 52, 7. सर्वसमावेशी तथा इग्ज़िज्टेन्ज, रीज़न 55. 8. दाज़ाइन और इग्ज़िज्टेन्ज 58, 9. मनुष्य का विश्लेषण : स्वतंत्रता और वरण 60, 10 मानव-जीवन में निहित सीमाएँ 62, 11. संप्रेषणीयता के रूप में सत्य : सर्मसमावेशी के वैपुल्य से संप्रेषण द्वारा एका 64, 12. शून्य का सिद्धांत 66, 13. आस्था 67, 14. मूल्यांकन 68।

अध्याय—चार

मार्सल 70-85

1. जीवन से प्रभावित दर्शन 70, 2. दर्शन का स्वरूप 71, 3. बुद्धिवाद और अनुभववाद 72, 4. अलगाव की स्थिति : रहस्य और समस्या 75, 5. व्यक्ति : देह और आत्मा : अस्तित्व और स्वामित्व 78, 6. मध्यम पुरुष का सिद्धांत : मैं और तू 81, 7. परित्याग : आशा : निष्ठा 82, 8. मूल्यांकन 84।



अध्याय—पाँच

हाइडेगर 86-102

1. जीवन 86, 2. सत्ताविज्ञानवाद : अस्तित्ववाद 86, 3. सत्ता का दर्शन 88, 4. आत्मा एवं मानव अस्तित्व : दाज़ाइन 91, 5. दाज़ाइन : जगत् तथा वस्तुएँ 95, 6. तार्किक निर्णय एवं भाषा 96, 7. त्रास 97, 8. मृत्यु/नास्ति : सत्ता का आनंद 99, 9. अंतर्बोध 100, 10. ऐतिहासिकता और काल 101, 11. मूल्यांकन 102।

अध्याय—छह

सार्त्र 103-119

1. जीवन एवं भोगा हुआ यथार्थ 103, 2. प्रतिरोध में स्वतंत्रता का बोध तथा अस्तित्व और उसकी निरर्थकता (निस्सारता) 105, 3. निरीश्वरवाद : अस्तित्व एवं सारतत्व 107, 4. अस्तित्व : पोर-सोइ, एन-सोइ तथा ज्ञान का सिद्धांत 110, 5. स्वतंत्रता, ईश्वर और परिस्थिति 114, 6. दूसरा व्यक्ति 117, 7. मूल्यांकन 118।

अस्तित्ववाद : सामान्य परिचय

अन्य सभी समसामयिक दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना में अस्तित्ववाद का एक विशेष महत्व है। इसने शिक्षित प्रबुद्ध व्यक्ति को अपने बारे में सोचने और अपने आपको समझने के लिए प्रेरित किया है—व्यक्ति यंत्र-मात्र या दर्शक-मात्र नहीं रह सकता, ऐसी स्थिति उसके व्यक्तित्व और अस्तित्व के निराकरण की सूचक है। यह व्यक्ति के अस्तित्व की अनिवार्यता है कि वह इस स्थिति को समझे जिसमें वह जी रहा है क्योंकि तभी वह अपने अस्तित्व को वास्तविक अर्थवत्ता से युक्त कर पाएगा और अपनी स्वतंत्रता का उपभोग कर सकेगा। स्वतंत्रता की धारणा अपने आप में नयी नहीं है किन्तु अस्तित्ववादियों ने उसकी जिस भाँति बौद्धिक तथा अनुभवजनित व्याख्या प्रस्तुत की है उसने अस्तित्ववाद को पर्याप्त जनप्रिय बना दिया है। वास्तव में, अस्तित्ववाद ने समाज, जीवन और राष्ट्र से उखड़े हुए व्यक्ति की दुखती रगों को सहलाया है, उसकी वेदना को पहचाना है।

कुछ विचारकों ने अस्तित्ववाद को एक प्राचीन सिद्धान्त के रूप में भी स्थापित करने का प्रयास किया है। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि सुकरात, संत ऑगस्टीन और विशेषकर टोमिज्म में हमें सच्चा अस्तित्ववाद मिलता है। उनके इस प्रयास की उपेक्षा न करते हुए यह मानना होगा कि जिस अस्तित्ववाद ने व्यापकता और जनप्रियता प्राप्त की है वह अर्वाचीन अस्तित्ववाद ही है। इस अस्तित्ववाद का जन्म जर्मनी में हुआ, यद्यपि इसको पल्लवित करने, प्रभावशाली और व्यापकता देने का श्रेय फ्रांस को देना होगा। अपने जन्मस्थान से हटने एवं फ्रांस में, एक प्रकार से पुनर्जन्म ग्रहण करने के साथ ही यह दर्शन चुम्बकीय शक्ति से युक्त हो गया। फ्रांस के शिक्षित वर्ग, विशेषकर युवा वर्ग ने इसके साथ अपनत्व अनुभव किया और विद्युत् गति के साथ इस दर्शन ने हेगेलियन विचारधारा को अपदस्थ कर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। समस्त 'एंग्लो-सैक्सन' जगत् को आकर्षित करने के साथ ही इसने विश्व के युवा वर्ग को अपनी स्वतंत्रता और दायित्व के सिद्धान्त से युक्त व्यक्ति के अन्दर पैठी हुई रिक्तता, अकेलापन, परायापन, आत्म-अलगाव असुरक्षा, भय, पीड़ा, त्रास, मृत्यु, निराशा आदि की भावनाओं द्वारा इतनी गहनता और अधिकार के साथ प्रभावित किया कि लेखकों, विचारकों तथा विद्यार्थियों अथवा दिग्भ्रान्त वंचित पीढ़ी को लगने लगा कि उसके जीवन की पीड़ा और रहस्य को इस दर्शन ने

उद्घाटित कर दिया है। यह दर्शन दिग्भ्रांत पीढ़ी की गीता बन गया और इस गीता का जिस व्यक्ति विशेष से नाम जुड़ गया, वह है ज्याँ पॉल सार्त्र। किन्तु जब सार्त्र के ऐसे व्यापक प्रभाव की बात करते हैं तब यह नहीं विस्मरण कर सकते कि अस्तित्ववादी विचारधारा को प्रगति देने वाले अथवा यूरोपियन चिंतन में अस्तित्व को नया अर्थ देने वाले किर्कगार्ड हैं। वैसे अस्तित्ववादी किर्कगार्ड तथा नीत्शे, दोनों को ही अथवा पूर्वगामी मानते हैं। इस दर्शन को विकसित और प्रभावपूर्ण बनाने वाले मुख्य दार्शनिकों का नाम लेते समय सार्त्र और किर्कगार्ड के अतिरिक्त चार और दार्शनिकों का नाम लेना होगा—नीत्शे यास्पर्स, मार्सल तथा हाइडेगर। वैसे निकोलाई बर्दिएँफ, मार्लो अबाग्नानो पोन्ती अलवेयर कामू, काफ्का, दाँस्तोवस्की आदि को भी नहीं भुलाया जा सकता। इन सभी का अपना महत्व है, अपना विशिष्ट योगदान है। इसलिए यह भी मानना होगा कि अस्तित्ववाद किसी निश्चित दार्शनिक सिद्धान्त का द्योतक नहीं है, इसके अन्तर्गत हमें कोई ऐसी प्रणाली नहीं मिलती जो सभी ने समान भाव से अपनाई हो।[1] प्रत्येक के पास कुछ ऐसा है जो उसका है, उसके अनुभवों और संवेदनाओं का प्रतिबिंब है, साथ ही अस्तित्ववाद को संपूर्णता प्रदान करने के लिए प्रत्येक एक प्रकाश स्तम्भ है।

सभी अस्तित्ववादी समान रूप से अमूर्त दर्शन तथा सिद्धान्त-निर्माण के विरोधी हैं। वे व्यक्ति की व्यक्तिगत सत्ता, उसकी विशिष्ट समस्याओं, उसकी स्वतंत्रता और दायित्व को महत्व देते हैं। वह मानते हैं कि व्यक्ति, व्यक्ति होने के नाते एक अनुक्रियारत प्राणी (रिस्पॉन्डिंग बीइंग) है। वे अपने दर्शन के माध्यम से मानव अस्तित्व को महत्व देते हैं। उनके दर्शन में अस्तित्व का अर्थ अमूर्त अस्तित्व से नहीं है, वरन् विशिष्ट अस्तित्व से है—मेरा अस्तित्व, मेरे मित्र का अस्तित्व, वरुण का अस्तित्व आदि। यह जीता-जागता मूर्त मानव है जो एक विशेष स्थान, विशेष वातावरण और विशेष समाज में स्थित है एवं व्यक्ति वस्तुओं वाले जगत् में स्थित है। यह वस्तुओं वाला जगत उसकी विरासत है, उसे यह मिला है इसलिए इस जगत में वह अपने को पाता है। वस्तुओं वाले जगत का उसने निर्माण नहीं किया है। यह पहले से ही है और रहेगा। स्पष्ट ही जगत में वह अकेला नहीं है। वह अपने जैसे व्यक्तियों के बीच है। उसकी स्वतंत्रता उनसे आबद्ध है। व्यक्तियों

---

1. स्वयं अस्तित्ववादी अपने दर्शनों में अन्तर मानते हैं। सार्त्र अपने दर्शन को 'अस्तित्ववाद' कहते हैं; मार्सल ने प्रारम्भ में अपने आपको अस्तित्ववादी कहा, पर बाद को इस तथ्य को नकार दिया। हाइडेगर अपने तथा सार्त्र के दर्शन में भेद मानते हैं। यास्पर्स का दर्शन "इग्जिस्टेंज फिलोसफी" (Existenz philosophie) कहा गया है तो हाइडेगर का दर्शन इग्जिस्टेंजियल-फिलोसफी (Existenzialphilosophie) देखिए : F. Copleston : ontemporary philosophy P. 125 (London, Burns & Oats, 1956)

और वस्तुओं से घिरा होने के कारण ही वह सीमित प्राणी है। उसकी ऐतिहासिक उसकी पहिचान है, वह उसके वरण को सीमित और निर्धारित करती है। अस्तित्ववादी दृष्टि से यह प्रश्न उठता है कि क्या व्यक्ति अपनी सीमा या घेरे का अतिक्रमण कर सकता है? ईश्वरवादी अस्तित्ववादी मानते हैं कि मनुष्य सीमाओं का अतिक्रमण कर सकता है किन्तु अनीश्वरवादी अस्तित्ववादी इस संभाव्यता को स्वीकार नहीं करते हैं। बाहरी दृष्टि से भिन्न या विरोधी दीखते हुए भी सभी अस्तित्ववादी आंतरिक भाव से संबंधित हैं, सभी समान्तर लक्ष्यों की ओर बढ़ते हैं। अतः अस्तित्ववाद एक विशिष्ट मनःस्थिति, विशिष्ट विचारधारा का द्योतक है। यह यथार्थ के विषदंश से छटपटाते हुए संवेदनशील आत्म-सचेत प्राणियों की उस मनोदशा का प्रतिबिंब है जो आश्रय खोजने के क्रम में भटक कर अवश हो जाते हैं; यह राष्ट्रीय विनाश के युग में पाश्चात्य यूरोपियन दर्शन की एक मुख्य शाखा का प्रतिनिधित्व करता है। सभी अस्तित्ववादी विचारक एक ही युग और परिस्थिति की उपज हैं, राष्ट्रीय संकट से त्रस्त एवं उसके परिणामों से अभिशप्त हैं।[1]

अस्तित्ववाद को एक प्रतिक्रियात्मक सिद्धान्त के रूप में समझना होगा। इसे एक ऐसे सिद्धान्त के रूप में समझना होगा जिसने विषम-परिस्थितियों में व्यक्ति की मूक वेदना का अनुभव किया तथा उसे स्वर देने का समयोचित प्रयास किया। इसने प्रभुत्व और बाह्य अंकुशों का स्वतंत्रता के नाम पर विरोध किया और समझाया कि व्यक्ति अपने राजनैतिक, धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि सम्बन्धों में स्वतंत्रता और दायित्व से युक्त है। किर्कगार्ड ने व्यक्ति के आंतरिक आध्यात्मिक विकास को महत्व देते हुए गिरजा एवं धार्मिक प्रभुता का विरोध किया। हाइडेगर, मार्सल, सार्त्र आदि के दर्शन भी अधिनायकवाद अथवा सर्वाधिकारवाद एवं उन सभी वादों जो व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण करते हैं, के विरुद्ध विद्रोह को परिलक्षित करते हैं। यह विद्रोह उनके चिन्तन या तर्कबुद्धि की उपज नहीं है। यह उस भोगे हुए सत्य का परिणाम है जिसने उनके जीवन को झकझोर दिया था।

अस्तित्ववाद के जन्म का कारण जीवन की व्यापक परिस्थितियाँ हैं—राजनैतिक, सामाजिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, औद्योगिक आदि स्थितियाँ हैं। बुद्धिवाद के दायधन के रूप में अमूर्त दर्शन, नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, ज्ञानमीमांसा अथवा दृश्यमानवाद ने एक

---

1. जर्मन-संकट को यास्पर्स और हाइडेगर, फ्रांसिसी को सार्त्र और मार्सल तथा रूस, योरोप एवं ईसाईधर्म (ईसाइयत) के संकट को बर्दिएँफ के दर्शन में अभिव्यक्ति मिली है अथवा इनके दर्शन राष्ट्रीय संकटों के प्रति प्रतिक्रिया को व्यक्त करते हैं। एक ही प्रकार की विषमताओं और संकट ने अस्तित्ववादी विचारकों को आवृत्त किया, उन्हें चुनौती दी, उनके व्यक्ति बोध तथा अस्तित्व बोध को जाग्रत किया।

ओर तो व्यक्ति की जीवन समस्याओं को निरुन्तरित रहने दिया तथा दूसरी ओर दो विश्व युद्धों, औद्योगिक क्रांति और औद्योगिक उन्नति ने व्यक्ति को असुरक्षा, पराएपन, चिन्ता, व्याकुलता की भावना से त्रस्त कर दिया। अथवा आधुनिक युग के अभ्युदय के साथ ही धर्म ने विज्ञान को अपनी ज्योति शलाका पकड़ा दी और विज्ञान ने अपनी औद्योगिक तथा प्रौद्योगिक प्रगति के क्रम में व्यक्ति को व्यक्ति नहीं रहने दिया—उसके अस्तित्व का अर्थ उसी की आँखों में खो गया। इसके साथ ही हेगेल के 'विश्व मन' तथा मार्क्स के साम्यवाद ने भी व्यक्ति की विशिष्टता और स्वतंत्रता को कोई मूल्य एवं महत्व नहीं दिया, वरन् उसे नगण्य ही माना। और इन सब के साथ युक्त हो गया दो विश्व-युद्धों का घातक प्रभाव—मूल्यों का विघटन। परम्परागत मूल्यों की मृत्यु ने धर्म, नैतिकता, विज्ञान, समानता, भ्रातृत्व के सिद्धान्तों को धूल में मिला दिया। यह एक प्रकार से शास्त्रीय अथवा परम्परागत दर्शन, अमूर्त चिन्तन एवं दर्शन की उन सभी शाखाओं पर प्रहार था जो मूर्त जीवन से वियुक्त हो गए हैं, उस दर्शन का उन्मूलन था जो जीवन से असबद्ध हो गया था।

अस्तित्ववाद दर्शन की पुनर्व्याख्या, पुनर्स्थापना के रूप में पल्लवित हुआ। अस्तित्ववादी दर्शन व्यक्ति और उसके जीवन, उसकी कठिनाइयों और संघर्ष को समझने का प्रयास है, यह व्यक्ति के अस्तित्व और उसकी स्वतन्त्रता को पहचानने का प्रयास है यद्यपि अपने इस प्रयास में यह पंगु ही रह गया है। उसने व्यक्ति और जीवन को संपूर्णता में समझने के विपरीत उसे एक विशिष्ट परिस्थिति—राजनीतिक, वैज्ञानिक, सामाजिक—का बन्दी मान लिया और यह बन्दी अपनी ही जैविक-प्राणिक तथा मानसिक चेतना के अनुभवों, सत्यों और घात-प्रतिघातों में दार्शनिक चिन्तन करता है।

अस्तित्ववाद को सुदृढ़ आधार देने का श्रेय व्यापक राजनीतिक परिस्थितियों को है। यह निर्विवाद है कि दो विश्व युद्धों ने यूरोपियन आत्म-विनाश का संकट उपस्थित कर अणु बम के माध्यम से व्यक्ति को उसके अस्तित्व के विनाश, उसकी आसन्न मृत्यु एवं जीवित मृत्यु का अनुभव करा दिया है।[1] युद्ध विभीषिका ने प्रत्येक क्षण को मृत्यु क्षण बना दिया था। युद्ध-काल में व्यक्ति व्यक्ति के लिए पराया हो गया था। उसका जीवन पीड़ा और त्रास से युक्त हो गया था। कब, किस क्षण, गरदन पर लटकती पराए व्यक्ति अथवा दुश्मन की तलवार अपना काम कर दिखाएगी, इस अन्तरतम भय और पीड़ा ने अस्तित्ववादियों के दार्शनिक चिन्तन को एक जीवन्त रूप दे दिया—उनका चिन्तन भुक्त-भोगी पीढ़ी का संबल बन गया।

1. अस्तित्ववादियों का प्रिय विषय त्रास, मृत्यु और स्वतन्त्रता की धारणा (वरण की स्वतन्त्रता) है।

औद्योगिक क्रान्ति तथा प्रौद्योगिक उन्नति ने उस यांत्रिक सभ्यता को स्थापित कर दिया जिसने मनुष्य को प्रकृति के सहज वातावरण से दूर कर बड़े-बड़े शहरों और कृत्रिम सभ्यता का बन्दी बनाकर उसे सामूहिकता के साँचे में ढाल दिया मानों वह स्वतन्त्र चेता व्यक्ति नहीं है। इस सामाजिक परिवर्तन ने मनुष्य का मनुष्य के साथ तथा प्रकृति के साथ सम्बन्ध तोड़ दिया। एकता और संगति के भंग हो जाने के कारण मनुष्य मनुष्य के सामान्य सम्बन्धों में एक तिक्तता और परायापन आ गया है। इस कारण संवेदनशील बुद्धिजीवी 'पराएपन की भावना' अथवा 'अलगाव की भावना' से त्रस्त हो गया है। असुरक्षा, चिन्ता एवं भय ने उसे नवीन चिन्तन दिशा—अस्तित्ववादी चिन्तन—प्रदान कर दी है। अपने कष्ट के क्षणों में वह अपने आपको सम्बलविहीन पाता है। सामाजिक और पारिवारिक सम्बन्धों से उखड़ कर वह परम्परा—धार्मिक, सामाजिक, दार्शनिक, राजनीतिक, बौद्धिक आदि—की केंचुल को फेंक देना चाहता है। उसका विद्रोह उस सबके प्रति है जो उसके व्यक्तिगत जीवन के मार्ग में आता है। क्योंकि "जीवन का सही अर्थ समर्पण नहीं है, विरोध और विद्रोह है।" वैज्ञानिक उन्नति और विश्व युद्धों ने उसे परिवार, समाज और जीवन-स्वातन्त्र्य से वियुक्त कर एक रेंगता हुआ कीड़ा बना दिया है; वह आज एक मशीन का पुर्जा मात्र है जो अपने ही बारे में, अपने दैनन्दिन जीवन के बारे में नहीं सोच पा रहा है। सामाजिक विघटन ने उसे एक खौफनाक अँधेरे वन में डाल दिया है। "आत्म अलगाव" से दंशित होकर अब वह अपने को समझना चाहता है—अपनी आत्मा को पाना चाहता है; अपने अस्तित्व, अपनी अर्थवत्ता, अपनी स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व के अर्थ को जानना चाहता है। वह केवल उस चिन्तन या दर्शन को स्वीकार करना चाहता है जो उसे जीवन की छटपटाहट से मुक्ति देने एवं उसका मार्ग-निर्देशन करने में समर्थ है।

मात्र शास्त्रीय या सैद्धांतिक दर्शन जीवन की ज्वलंत समस्याओं का समाधान करने में असमर्थ है। सैद्धांतिक चिन्तन के व्यावहारिक पक्ष से रीते स्वरूप पर ह्यूम ने प्रकाश डाला था।[1] ह्यूम की यह स्वीकारोक्ति उन सभी दर्शनों पर आरोपित की जा सकती है जो न केवल जन सामान्य से दूर हैं वरन् जीवन को सुनिर्देशित करने तथा उसकी प्रगति में सहायक होने में असमर्थ हैं। दुख और अंधकार में पड़ा व्यक्ति उनसे

1. "I dine, I play a game of back-gammon, I converse, and am merry with my friends; and when after three or four hour's amusement, I wou'd return to these speculations, they appear so cold, and strain'd, and ridiculous, that I cannot find in my heart to enter into them any farther."

Hume : A Treatise of Human Nature (Book I, Pt. IV, Sec VII)

ऊपर उठने के लिए सहारा चाहता है । उसे कोरा चिन्तन सन्तोष नहीं दे सकता। पाश्चात्य दर्शन में, अजाने ही, सिद्धान्त और व्यवहार, चिन्तन और जीवन एक अलंध्य दूरी के पर्यायवाची हो गये हैं। यही कारण है कि विद्वानों और अध्यक्षों का दार्शनिक चिन्तन, उनके दार्शनिक सिद्धान्त और प्रणालियाँ तथा कक्षा भाषण अपने आप में निर्जीव हो गये हैं। वे आधुनिक युग के त्रस्त व्यक्ति, उसके बढ़ते हुए मानसिक-स्नायविक तनाव को वितृष्णा और विद्रोह से भर देते हैं । वे दिग्भ्रान्त पीढ़ी को, उसके उद्देश्यहीन भटकाव को, सम्हालना तो दूर, समझ ही नहीं पा रहे हैं । परम्पराबद्ध आधुनिक दर्शन को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—जड़वाद एवं अबुद्धिवाद (इर्रैशनलिज्म) और बुद्धिवाद एवं प्रत्ययवाद या आदर्शवाद । यह दोनों ही वर्ग अस्तित्ववादी व्यक्ति को सन्तोष देने में असमर्थ हो गये हैं क्योंकि ये, उसके अनुसार, व्यक्ति के अस्तित्व और उसकी स्वतन्त्रता को नहीं समझ पाये हैं। अस्तित्ववादी जिस अस्तित्व को महत्व देते हैं वह विशिष्ट है, न कि असीम । इसलिए, इनके लिए अस्तित्व की समस्या एक मुख्य समस्या है । अस्तित्व (विशिष्ट) क्या है ? उसे क्या होना है ? इस होने का क्या अर्थ है ? व्यक्ति के सम्मुख अनेक समस्याएँ हैं, विभिन्न सम्भावनाएँ हैं। इन सम्भावनाओं में से उसे किसी एक का वरण करना है । पर तब समस्या उत्पन्न होती है : क्या वरण किसी भी प्रकार का हो सकता है ? क्या व्यक्ति अपने वरण में उन्मुक्त है या क्या उसका वरण किन्हीं तथ्यों से निर्धारित हैं ? अस्तित्ववादी मानते हैं कि वरण का स्वरूप व्यक्ति की ऐतिहासिकता, उसके वस्तुओं तथा अन्य व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध द्वारा सीमित है । किन्तु वे नियतिवाद के पोषक नहीं हैं। वे मानते हैं कि व्यक्ति को निरन्तर समस्याओं से जूझना पड़ता है—अपनी सम्भावनाओं एवं ऐतिहासिकता के मध्य उसे वरण करना पड़ता है। मनुष्य अथवा दाज़ाइन (मनुष्य जगत् में) इस वरण द्वारा अपने आपको प्रक्षेपित करता है। विशिष्ट अस्तित्व को महत्व देते हुए अस्तित्ववाद ज्ञानमीमांसीय प्रत्ययवाद—वस्तुएँ केवल प्रत्यय या विचार हैं—और अहंमात्रवाद (सोलिप्सिज्म)--केवल मेरा ही अस्तित्व है—का विरोध करता है। मनुष्य को विशिष्ट अस्तित्व मानते हुए अस्तित्ववादी उसे संम्पूर्ण वास्तविकता नहीं मानते वरन् मानते हैं कि वह कुछ होने के क्रम में है, विशेषकर सार्त्र 'पौर सोइ' की धारणा द्वारा इस पर प्रकाश डालते हैं। अतः मनुष्य तथ्य नहीं है, उसकी वैज्ञानिक विधि या वस्तुगत प्रणाली के माध्यम से व्याख्या नहीं की जा सकती है। मनुष्य को निर्जीव वस्तुओं, अप्रबुद्ध प्राणियों की भाँति नहीं जीना चाहिए। केवल देश और काल के जगत में रहना, जीवित रहना अस्तित्व नहीं है। मनुष्य को वरण द्वारा अपने अस्तित्व को प्राप्त करना होता है। इसी दृष्टि से अस्तित्ववाद, प्रत्ययवाद और जड़वाद, औद्योगिक तथा प्रौद्योगिक जीवन की मान्यताओं को स्वीकार नहीं करता है।

अस्तित्ववादी सारतत्व (एसॅन्स) और अस्तित्व (इग्जिस्टेन्स) की व्याख्या[1] द्वारा यह समझाते हैं कि सारतत्व अस्तित्व के पूर्व नहीं है। पहले अस्तित्व है, व्यक्ति या मानव है। व्यक्ति एक वास्तविकता है जिसका सम्बन्ध एक विशिष्ट देश और काल से है। हमें हमारा तात्कालिक अनुभव हमारे अस्तित्व के बारे में बताता है। किन्तु मानवता (सारतत्व) का इस भाँति हम अनुभव नहीं कर पाते हैं। बुद्धि या तर्क द्वारा ही हम मानवता (सारतत्व) को समझ पाते हैं। सारतत्व से उनका अभिप्राय उससे है जो सर्वसामान्य एवं सर्वनिष्ठ है, यह वह आन्तरिक सार्वभौम स्वभाव (मानवता) है जो सभी व्यक्तियों में है। अस्तित्व का सम्बन्ध व्यक्ति की वास्तविक सत्ता से है। सारतत्व सार्वभौम है, एक सम्भावना है किन्तु अस्तित्व विशिष्ट है, एक वास्तविकता है जिसका सम्बन्ध विशिष्ट देश और काल से है। अस्तित्ववादी सार्वभौम या मानवता (सारतत्व) से अधिक महत्व उस मानव-सत्ता (अस्तित्व) को देते हैं जो संकल्प करता है, दुःख-सुख भोगता है।

आधुनिक दर्शन डेकार्ट के द्वंद्वात्मक तत्वदर्शन से प्रारम्भ होकर कांट के परमार्थ तत्व और हेगेल के परम प्रत्यय पर पहुँचता है। बुद्धिवाद, आदर्शवाद अथवा प्रत्ययवाद के विरुद्ध अस्तित्ववादियों का कहना है कि यह विचारधारा व्यक्ति, उसका व्यक्तित्व, उसकी आत्मा और स्वतन्त्रता का हनन करती है। अथवा परम प्रत्ययवाद और वैज्ञानिक बुद्धिवाद ने मानव व्यक्तित्व का निर्व्यक्तीकरण कर दिया है। किर्कगार्ड तो, इस कारण, हेगेल के विश्व-मन के कटु आलोचक हैं। वे मानते हैं कि हेगेल का सर्वतर्कवाद (पैन-लोगिज्म) व्यक्ति के धार्मिक-नैतिक अनुभवों की आन्तरिक गहनता को छू नहीं पाया है। बुद्धि के अमूर्त वर्ग व्यक्ति के आन्तरिक अनुभवों के गहन और व्यापक भण्डार की उपेक्षा करते हैं। आदर्शवाद अथवा प्रत्ययवाद प्रत्येक तथ्य को चेतना के आधार पर समझाता है क्योंकि चेतना को वह वास्तविकता की धारणा से युक्त करता है। चेतना से युक्त होने के कारण व्यक्ति का विश्व में एक विशिष्ट स्थान है, उसका जीवन सौदेश्य है। उसे अपने उद्देश्य एवं आदर्श का उपार्जन करना है, वह निष्क्रिय द्रष्टा मात्र नहीं है । उसके उद्देश्य का वस्तुगत मूल्य है। इस दृष्टि से व्यक्ति वह माध्यम है जिसके द्वारा उद्देश्य, चेतना अथवा बुद्धि अपने को चरितार्थ करती है। अस्तित्ववाद ऐसी विचारधारा का खंडन करता है क्योंकि इस विचारधारा के आधार पर मनुष्य की स्वतः में कोई परम वास्तविकता नहीं है। वह वस्तुगत मूल्य के उपार्जन का माध्यम मात्र है और अपने आप में

---

1. पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में हमें "सारतत्व" और 'अस्तित्व' सम्बन्धी दो व्याख्याएँ मिलती हैं। सार्वभौमवादी, प्रागनुभववादी, बुद्धिवादी और विषयनिष्ठवादियों ने सारतत्व को अस्तित्व के पूर्व माना है तो व्यक्तिवादियों, अनुभववादियों, विषयीनिष्ठवादियों, स्वच्छंदतावादियों आदि ने इसके विपरीत अस्तित्व की प्राथमिकता को महत्व दिया है।

स्वतन्त्र भी नहीं है। उसके लिए हम यह कह सकते हैं कि विकास एवं इतिहास के क्रम में वह वस्तुगत आदर्श की ओर अग्रसर हो रहा है तथा वह वास्तविकता का ज्ञान भी प्राप्त कर सकता है क्योंकि वास्तविकता का मूल स्वरूप चेतना है। चेतना से युक्त होने के कारण मनुष्य के लिए वास्तविकता अज्ञेय नहीं हो सकती।

आज से लगभग पौने चार सौ वर्ष पूर्व डेकार्ट[1] से प्रारम्भ इस बुद्धिवादी दर्शन की प्रवृत्ति प्रमुखतः आत्मनिष्ठ रही है। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण इसने कालक्रम में अनुभव के वास्तविक विषयों के प्रति विरक्ति को अपना लिया मानो इन विषयों का अपना वास्तविक अस्तित्व ही न हो। इसने उन तार्किक और धारणात्मक कारणों को महत्व दे दिया जिनके माध्यम से विषय प्रस्तुत होते हैं। परिणामस्वरूप शीघ्र ही विषय इतने गौण हो गये कि उनकी ओर ध्यान देना ही दार्शनिकों ने छोड़ दिया अथवा आज का विश्लेषणात्मक दर्शन आत्मनिष्ठ प्रवृत्ति का ही तार्किक परिणाम है। इस दर्शन ने यह मान लिया है कि अनुभव के वास्तविक तथ्य का सम्बन्ध किसी न किसी सीमित विज्ञान के क्षेत्र से है एवं अनुभव के तथ्य दार्शनिक तथ्य हैं ही नहीं। इसलिए दर्शन का सम्बन्ध तर्कशास्त्र और भाषा-विषयक विश्लेषण से है; विज्ञान द्वारा अनुभवात्मक अनुसंधानों के लिए प्रयोग में लाये गये करणों तथा परिणामों की व्याख्या से है।[2] ऐसा दर्शन अपने स्वरूप, प्रयास और प्रणाली में जीवन से दूर हो गया है। उसके पास जीवन को देने, उसकी संस्कृति के विकास एवं व्यक्ति का मार्गदर्शन के नाम पर अध्ययन-कक्ष का भाषा-व्यायाम मात्र है।

प्रकृतिवाद में मनुष्य प्रकृति के विषयों की भाँति ही एक विषय हैं। भौतिक जगत् की विशालता के सम्मुख उसका व्यक्तितत्व और स्वातन्त्र्य अर्थहीन हो जाता है। वह अपनी विशिष्टता रखते हुए भी विशिष्ट नहीं है क्योंकि वह प्रकृतिरूपी व्यापक यन्त्र का एक अंगमात्र है। अतः उसकी स्वतन्त्रता एक छलना है। मार्क्स का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद जो सर्वहारावर्ग के विद्रोह (रक्त क्रान्ति) और अधिनायकत्व के माध्यम से साम्यवाद की स्थापना करना चाहता है व्यक्ति और उसके स्वातन्त्र्य का निर्ममता पूर्वक अपहरण करता है। वास्तव में सर्वसत्तात्मक राज्य न केवल व्यक्ति के स्वातन्त्र्य को पैरों तले रौंद देता है वरन् व्यक्ति की समग्रता, उसके सम्यक् व्यक्तित्व के प्रति भी घातक है।

अस्तित्ववाद को स्पष्ट ही ये विचारधाराएँ संतुष्ट नहीं कर पायीं। उसने इन विचारधाराओं, सिद्धान्तों के विरुद्ध अपने सिद्धान्त को स्थापित करने का प्रयास किया और समझाया कि अन्ध आस्था, विश्वास, परम्परागत दर्शन तथा उसका अंतहीन अमूर्त

1. 1596-1650.

2. देखिये, Wild, John : The Challenge of Existentialism p. 9. (Bloomington)

चिन्तन, यांत्रिक विधि से स्थापित सामाजिकता, वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक जीवन-मूल्य जीवन में प्रतिष्ठित नहीं किये जा सकते हैं। हमें व्यक्ति को समझना होगा, उसके अस्तित्व के प्रति प्रबुद्ध होना होगा। अतः अस्तित्ववाद का मुख्य लक्ष्य व्यक्ति है, व्यक्ति का स्वातन्त्र्य और अस्तित्व है, उसकी भावनाएँ-संवेदनाएँ अथवा उसका भोगा हुआ जीवन है। मानव अस्तित्व एवं व्यक्ति को अस्तित्ववादी उसकी जगत् में मूर्त निर्धारित स्थिति में समझने का प्रयास करते हैं। वे मानते हैं कि व्यक्ति एक अमूर्त ज्ञानमीमांसीय विषयी नहीं है। अस्तित्ववादियों की ज्ञानमीमांसा सामान्यतः बुद्धि-विरोधी, तर्क-विरोधी है, यह विषयनिष्ठता विरोधी भी है। इन सबके विरुद्ध यह अंतर्ज्ञान, विषयिनिष्ठता, स्वच्छन्दता तथा अति-भावुकता को अभिव्यक्ति देती है। अस्तित्ववादी मानते हैं कि व्यक्ति एक विशिष्ट स्थिति में स्वतन्त्र सत्ता है। उसका जैसा समस्यामूलक स्वभाव है, उस स्वभाव को हम प्रयोगशाला में वैज्ञानिक विधि से विश्लेषण करके नहीं समझ सकते हैं। हमें मूर्त मानव अस्तित्व को समझना होगा और उसकी संकट से रक्षा करनी पड़ेगी।

अस्तित्ववादी दृष्टि तात्विक चिन्तन तथा वस्तुगत तर्क का आश्रय नहीं लेती है। वह मानती है कि सत्ता-सम्बन्धी समस्याओं को हल करने में बुद्धि असमर्थ है। आंतरिक संवेदन एवं भावना ही वह शक्ति है जो सत्य को ग्रहण कर सकती, उससे साक्षात्कार करा सकती है। वह व्यक्तिवादी, आत्मनिष्ठ[1] और अति-संवेदनशील है। अपनी व्यक्तिवादिता, आत्मनिष्ठता और अति-संवेदनशीलता में वह सच्चाई और ईमानदारी को अपनाने का संकल्प लेती है। वह मानव और उसकी स्वतन्त्रता को महत्व देती हैं पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता उसे स्वेच्छाचारी नहीं बनाती है क्योंकि स्वतन्त्रता उसे दायित्व से युक्त करती हैं। जिस मनुष्य की वे बात करते हैं वह जगत में (मनुष्य-जगत में) है।[2]

1. डेकार्ट के दर्शन के आत्मनिष्ठता के सिद्धान्त का अस्तित्ववाद के संदर्भ में, विस्मरण नहीं किया जा सकता है।

2. हाइडेगर सत्ता (dasem) के अर्थ की समस्या को उठाता है, उसके लिए सत्ता की सत्ताविज्ञानीय समस्या महत्वपूर्ण है, यह केन्द्रीय समस्या है। पर सार्त्र और कामू का दर्शन मनुष्य और उसके चारों ओर को समझना चाहता है। वे मनुष्य का अध्ययन एक विषय की भाँति नहीं करते हैं। मनुष्य विषयी है यद्यपि वह अपने आपको विषयनिष्ठ भी कर सकता है। अस्तित्ववादी मनुष्य को एक विषयी के रूप में जानने का प्रयास करते हैं। यह विषयी मात्र आत्म-सीमित मानव अहं नहीं है; इसलिए वे मनुष्य की जगत में स्थिति पर भी प्रकाश डालते हैं।

3. डेकार्ट ने आत्मा के अस्तित्व को स्वयंसिद्ध मानकर आत्मा एवं चेतना और जड़ को विपरीत धर्मी सिद्ध कर दिया। ऐसे द्वैतवाद को मान लेने पर आत्मा के आधार पर बाह्य जगत के अस्तित्व या बाह्य जगत् के साथ व्यक्ति के सम्बन्ध को समझाना संभव नहीं है। बर्कले के प्रत्ययवाद में भी इस समस्या का समाधान नहीं मिलता है वरन् यह समस्या अधिक तीव्र रूप में उत्पन्न हो जाती है।

वह डेकार्ट के दर्शन की भाँति आत्म-आबद्ध चेतना नहीं है।[3] अतः बाह्य जगत की सत्ता सिद्ध या असिद्ध करने का प्रश्न नहीं उठता है। जगत का अस्तित्व है क्योंकि व्यक्ति का अस्तित्व, उसकी प्रतिक्रियाएँ एवं जागतिक व्यापार जगत की अपेक्षा रखते हैं। व्यक्ति वस्तुओं के जगत से सम्बन्धित है, तथा उसका सम्बन्ध उन अपर व्यक्तियों से भी है जिनके साथ वह रहता है। अस्तित्ववादियों ने जिन समस्याओं को उठाया और जिस भाँति उन्हें समझा-समझाया वह उनकी अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त करता है। इसलिए उनकी दृष्टि मात्र बौद्धिक, सैद्धान्तिक या तटस्थ नहीं है। उनके सम्मुख समस्या और उसका समाधान एक जीवंत व्यक्तिगत सत्य है यद्यपि यह व्यक्तिमत सत्य सभी भुक्तभोगियों का सत्य भी बन जाता है। व्यक्तिगत असह्य कठिनाइयाँ अस्तित्व-वादियों को चिन्तक बनाती हैं, उनके दर्शन में चिन्तक और कर्त्ता (अनुक्रियारत प्राणी) एक हो जाते हैं। इसलिए अस्तित्ववादी दर्शन को समझने के लिए उसके प्रणेताओं के जीवन और परिवेश को जानना आवश्यक है। सभी अस्तित्ववादियों में जो व्यक्ति-अस्तित्व के प्रति व्यामोह तथा अत्यधिक सचेतनता मिलती है, परिमितता, पाप, पीड़ा, मृत्यु का त्रास मिलता है, उसके मूल में निःसन्देह विश्व युद्ध, सामाजिक-राजनैतिक तथा दार्शनिक परिस्थितियाँ, औद्योगिक-प्रौद्योगिक उन्नति एवं वैज्ञानिक आविष्कारों के समान्तर में सामान्यीकरण तो है ही, दार्शनिकों के मन का संत्रस्त उखड़ाव भी है। वे अपने चारों ओर से दुखी एवं ऊबकर, अपने ही व्यक्ति-अस्तित्व के जीवन के लिए सशं-कित होकर मृत्यु के सम्मुख जीते हैं और एक नए संबल की खोज में त्रस्त हो जाते हैं। वे त्रस्त इसलिए हैं कि संबल को पाने की शान्ति उनके दर्शनों में नहीं है, वरन् है न पाने की बेचैनी और त्रास। फिर भी यदि किर्कगार्ड, यास्पर्स और मार्सल की परम्परा के आस्थावादी दार्शनिकों की तुलना हाइडेगर और सार्त्र से करें तो लगेगा कि इन आस्था-वादियों ने सहारा पा लिया है। कम-से-कम इन्हें अपने आश्रय का आभास तो हो ही गया है। इनके दर्शन में आत्म-अतिक्रमण की बात है, परात्पर की बात है पर ये बातें आत्म-सत्य, आत्मिक अनुभूति नहीं बन पाई हैं। इसका कारण यह है कि इन आस्थावा-दियों की भूमि अनुभववादी-संवेदनवादी चिन्तन की है, सम्यक् अनुभूति की नहीं है।

अस्तित्ववाद को सामान्यतः दो वर्गों में विभाजित किया गया है : ईश्वरवादी या आस्तिक अस्तित्ववाद और अनीश्वरवादी या नास्तिक अस्तित्ववाद। इस भेद का आधार उनका स्वतन्त्रता का सिद्धान्त है। स्वतन्त्रता और अस्तित्व को दोनों ने ही महत्व दिया है। उनमें अन्तर इस प्रश्न को लेकर है कि स्वतन्त्र वरण मानव अस्तित्व को किस उपलब्धि की ओर ले जाता है। ईश्वरवादी स्वतन्त्रता एवं वरण को आत्म-अतिक्रमण से युक्त करते हैं। किर्कगार्ड कहते हैं कि व्यक्ति अपने वरण द्वारा परम शुभ एवं भगवान् का सामीप्य प्राप्त कर सकता है। मार्सल व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की चेतना को अंतर्मुखी चिंतन

के माध्यम से समझाते हुए यह मानते हैं कि अंतर्मुखी चिंतन द्वारा व्यक्ति स्थूल बंधनों का अतिक्रमण कर अपना आंतरिक रूपांतर कर सकता है एवं परात्पर को प्राप्त कर सकता है। यास्पर्स भी प्रामाणिक वरण पर प्रकाश डालते हुए समझाते हैं कि हमें जगत् में अपनी स्वतन्त्रता को प्राप्त करना है और उसे परात्पर में खो देना है--परात्पर ही स्वतन्त्रता का आधार, सीमा और लक्ष्य है।

अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद दो रूपों में व्यक्त होता है : नम्र और उग्र। उग्र के अन्तर्गत सार्त्र और नीत्शे मिलते हैं तथा नम्र के अंतर्गत हाइडेगर। अनीश्वरवादियों ने स्वतन्त्रता की धारणा को व्यक्ति एवं मानव-अस्तित्व से युक्त किया है। मानव और उसकी स्वतन्त्रता एक ही हैं (मानव अस्तित्व-स्वतन्त्रता)। अतः मानव जीवन स्वतंत्रता की चरितार्थता के लिए एक अनवरत प्रयास है। 'सत्ता और काल' में वे सत्ता की समस्या की विशद व्याख्या करके इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सच्चा विचारक और सच्चा कवि वह है जो वास्तविक अस्तित्व के जगत का अतिक्रमण करके सत्ता के सत्य को प्राप्त कर लेता है। यह आंतरिकता की वह अद्वितीय शांति की स्थिति है जो हमें बताती है कि हम अनश्वर के साथ सतत् रहते हैं। हाइडेगर की ऐसी अनीश्वरवादी दृष्टि 'लेटर ऑन ह्यूमेनिज्म' में मान लेती है कि मनुष्य की अस्तित्ववादी व्याख्या न तो ईश्वर को स्वीकार कर सकती है और न उसका निराकरण ही कर सकती है। इसका कारण यह है कि वैचारिक विश्लेषण अथवा दर्शन ईश्वर के बारे में कुछ भी कह सकने में असमर्थ है। ईश्वर का स्तर 'परम पावन' का स्तर है। वास्तव में हाइडेगर का अनी-श्वरवाद अन्य कुछ नहीं है वरन् उनका परम्परागत ईश्वर की धारणा में निहित सीमाओं के प्रति सचेतता का सूचक है। हाइडेगर परम सत्तावादी हैं एवं भारतीय दर्शन की शब्दावली में ब्रह्मवादी हैं। वे परम सत्ता की निःशब्द ध्वनि के प्रति प्रणत हैं। नीत्शे का अनीश्वरवाद, जिसमें अस्तित्ववाद के कुछ तत्व मिलते हैं, संकल्प की स्वतन्त्रता का विरोध करता है। वह यह भी मानता है कि पुराना ईश्वर मर गया है। पर नीत्शे का यह कथन तथा अन्य अनीश्वरवादी कथन उनकी अदम्य महत्वाकांक्षा से युक्त उनकी हताशाओं को ही अभिव्यक्ति देते हैं। स्वयं अपने अंतरतम में वे मानते हैं कि ईश्वर मानव जीवन की अनिवार्यता है, "एक पूर्ण व्यक्ति को मित्रों की आवश्यकता होती है, अथवा उसका ईश्वर पर पूर्ण विश्वास होना चाहिए। मेरे पास न तो ईश्वर है और न मित्र ही…!" सार्त्र का अनीश्वरवाद मानता है कि मानव की स्वतंत्रता ही उसकी मानवता है। वे वरण की स्वतन्त्रता को अपने मानववाद द्वारा समझाते हैं। मनुष्य की स्वतन्त्रता उसे व्यापक दायित्व से युक्त करती है क्योंकि मैं उसी का वरण कर सकता हूँ जो न केवल मेरे लिए वरन् जगत के सभी व्यक्तियों के लिए अच्छा है,"[1] इस दृष्टि

1. तुलना "उस सिद्धान्त के अनुसार कर्म करो जिसके बारे में तुम यह भी इच्छा कर सको कि वह एक सार्वभौम नियम बन जाए।" कांट

से वे कहते हैं कि ईश्वर वह निरपेक्ष मूल्य है जो हमारे जीवन को प्रेरित और शासित करता है। वास्तव में, सभी अस्तित्ववादी अपने मूलगत तथ्यों—मानव अस्तित्व, स्वतन्त्रता, पीड़ा एवं त्रास—के आधार पर अस्तित्ववादी हैं। उनमें मानव अस्तित्व का स्वरूप स्वतन्त्रता को अर्थ प्रदान करता है और स्वतन्त्रता मानव अस्तित्व को। अतः ईश्वरवाद या अनीश्वरवाद के आधार पर अस्तित्ववादियों का विभाजन उचित ही नहीं है।

अस्तित्ववाद में उस गहन दृष्टि का अभाव परिलक्षित होता है जो पूर्व के आध्यात्मिक दर्शन का मूलधन है। अस्तित्ववादी दृष्टि अत्यधिक व्यक्ति-केन्द्रित हो गई है। यह व्यक्ति की खोज करती है, उसे समझने का प्रयास करती है और उसकी गरिमा को स्थापित करने का प्रयास करती है। पर व्यक्ति की गरिमा को उसकी संपूर्णता में स्वीकार करने के विपरीत, अपनी बहिर्मुखी तथा अनुभववादी विश्लेषणात्मक प्रणाली के कारण, यह व्यक्ति का मात्र उसके घात-प्रतिघातों (अनुक्रियारत प्राणी) के रूप में मूल्यांकन करती है। अस्तित्ववादी व्यक्ति के अन्दर ही उस गहराई और गरिमा को नहीं देख पाए जो उसे सहज ही विश्वात्मा और परात्पर से युक्त कर भय, असुरक्षा, त्रास, मृत्यु, पीड़ा, एकाकीपन आदि की भावनाओं से मुक्त कर देती है। फिर भी अस्तित्ववाद को यह श्रेय देना ही होगा कि उसने सांसारिक जीव और उसकी जीवन प्रणाली, उसके तात्कालिक अनुभवों, उसकी व्यक्तिगत-सामाजिक, भावनात्मक-बौद्धिक, प्राणिक-नैतिक आवश्यकताओं को समझने का निष्ठापूर्वक प्रयास किया है। साथ ही, समान्तर में, यह भी स्वीकार करना होगा कि अपने उद्देश्य में वह एकांकी हो गया है क्योंकि उसने मूलतः आत्मनिष्ठ मानसिक स्थिति को ही महत्व दिया है। सार्त्र, यास्पर्स और हाइडेगर तो दृश्यमानवादी (फिनॉमिनोलोजिकल) प्रणाली से इतना अभिभूत हो गए कि उन्हें सामान्य अनुभववादी व्यापक विश्लेषण ने परितोष दे दिया। युग परिस्थिति में बहते हुए बहिर्भ्रमित व्यक्ति को उसकी आंतरिकता के प्रति प्रबुद्ध करते हुए वे व्यक्ति-चेतना, व्यक्ति-अनुभव, व्यक्ति-स्वतन्त्रता में खो जाते हैं।

अस्तित्ववाद का दृष्टिकोण निराशावादी है; यह एकाकीपन, हताशा, संदेह, मृत्यु-भय, आत्म-अलगाव, पीड़ा को महत्व देता है। इसकी भाषा जीवात्मा के दुःख की भाषा है। यह उन अत्यधिक संवेदनशील मनों की कराह है जो संस्थापित सांस्कृतिक मूल्यों और परम्परा के ढह जाने तथा आसन्न आणुविक युद्ध की सम्भावना से व्यथित हैं। अस्तित्ववादी साहित्य भी अपने युग के स्नायविक विकार, मानसिक घबड़ाहट तथा गहन विचित्र परिवर्तनों के अज्ञात लक्ष्य के प्रति आतंक को लक्षित करता है। इसकी यह निराशा मर्मस्पर्शी है क्योंकि यह जीवात्मा के अनुभव की साक्षी है। भारतीय दर्शन के लिए भी जीवन दुःखपूर्ण है। किन्तु दुःख मानव-अस्तित्व, मानव-अनुभव का मूलगत

सत्य नहीं है। यदि भारतीय चिंतन और दर्शन उस स्थिति को प्राप्त करने की बात करता है जो दुःख से मुक्ति या आनन्द की स्थिति है तो अस्तित्ववाद दुःख का आँचल पकड़ लेता है; उसकी दुःख के प्रति एक जानी अथवा अजानी, व्यक्त अथवा अव्यक्त आसक्ति, तृष्णा एवं लालसा परिलक्षित होती हैं। किर्कगार्ड और सार्त्र दोनों ही मानव-अस्तित्व को पीड़ा से युक्त कर देते हैं। अस्तित्ववाद ने अपने दर्शन और चिंतन के माध्यम से जीवन-प्रणाली को समझना चाहा। जीवन-प्रणाली की खोज भारतीय दर्शन में तो है ही, पाश्चात्य दर्शन में भी इस प्रकार के पर्याप्त प्रयास मिलते हैं। प्रारम्भिक यूनानी विचार-धारा में 'पाएथेगोरियन सोसाइटी' की स्थापना, सुकरात का 'ज्ञान सद्गुण है' का मंत्र, प्लेटो और एरिस्टौटल का शुभत्व या साधुता का सिद्धांत, स्टोइक्स की सद्गुणी मनुष्य की धारणा तथा नव्य प्लेटोवाद स्वतन्त्रता की ही स्थापना करते हैं। धार्मिक युग एवं मध्य युग में दर्शन को जीवन-प्रणाली की खोज से विरत कर दिया गया था। यह दायित्व धर्म का मान लिया गया और ईसाई धर्म ने मुक्ति का मार्ग—नैतिक कर्म का मापदण्ड—निर्धारित कर दिया था। कालक्रम में दर्शन जीवन से वियुक्त हो गया और वह शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक अनुसंधानों के माध्यम से विश्वविद्यालय के कक्षा-भाषणों—अध्यापकों और विद्यार्थियों—तक सीमित हो गया। आधुनिक काल का यूरोप धार्मिक पुनर्जागरण, ईसाई धर्म पर अविश्वास, अनास्था और संदेह तथा तर्कबुद्धि और विज्ञान का यूरोप है; यह यूरोप ईसाई मूल्यों और ईसाई शिक्षा के सार्वभौम स्वरूप और परम आदेश को स्वीकार करने में असमर्थ है। यह यूरोप विज्ञान की शक्ति से भी परिचित है क्योंकि यह जानता है कि नैतिकता और जीवन का मानदंड विज्ञान प्रदान नहीं कर सकता है। दो विश्व-युद्धों, हताशा, भय और आत्म-अलगाव का यह यूरोप शास्त्रीय चिंतन, प्राध्यापकीय भाषण एवं मात्र सैद्धांतिक दर्शन की अपूर्णता और एकांगिता को समझता है। अस्तित्ववाद ऐसे यूरोप को एक जीवंत प्रणाली, एक जीवंत दर्शन देने का संकल्प करता है, यह संकल्प "शुभ" है किन्तु यह संकल्प जिस व्यक्ति के लिए लिया जाता हैं, जिसकी स्वतन्त्रता को महत्व दिया जाता है वह व्यक्ति अपने आपके लिए एक पहेली है; व्यक्ति अपने स्नायविक विधान, प्राणिक-जैव शक्तियों, अचेतन प्रवृत्तियों, आवेगों का क्रीतदास है। अन्न, प्राण तथा मन के धरातल से ऊपर उठने के प्रयास में वह पंख कटे पक्षी-सा फड़फड़ाता रहता है, उसकी आत्मा अपनी ही चेतना के सम्मुख अपने संयोजित व्यक्तित्व को खो देती है।

व्यक्ति की खोज, आत्मा की खोज कोई अत्याधुनिक उपलब्धि नहीं है। औपनिषदिक द्रष्टाओं ने 'आत्मानंन विद्धि' ए सुकरात ने 'अपने को जानो' का मंत्र प्राचीन काल में दे दिया था। आज उसी मंत्र को अपने देश की युगीन चेतना के अनुरूप अस्तित्ववादियों ने वाणी दी है। निःसंदेह उन्होंने आत्मिक संकट को समझा। उनका दर्शन

यह भलीभाँति स्थापित कर देता है कि मानव के सांसारिक अस्तित्व एवं जीवात्मा की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। पर सर्वभूतान्तरात्मा की गहन व्यापक अनुभूति के अभाव के कारण, उनके दर्शन में, समाधेय कठिनाइयाँ असमाधेय बन जाती हैं। अस्तित्ववादी व्यक्ति-सत्य को उसकी सम्यक्ता—ऊर्ध्व तथा सम, व्यक्ति, विश्व तथा परात्पर—से समन्वित एवं एकीभूत नहीं कर पाए। व्यक्ति, सब कुछ होते हुए भी, एक अनुक्रियारत प्राणी ही रह जाता है। अस्तित्ववादियों की स्थापनाएँ सापेक्ष हैं, युग चेतना तक सीमित हैं। उनके इस कथन को भी नकारा नहीं जा सकता कि आज का व्यक्ति असंतुष्ट है, सङ्घर्षरत और त्रस्त है तथा उसकी स्वतन्त्रता अभिशप्त है। वह आत्म-अलगाव से पीड़ित है और उसकी एक विशिष्ट मनोदशा है। इसके आगे, चाहने पर भी, वे नहीं जा पाए। यदि दर्शन का काम जीवन निर्देशन है, व्यक्ति को आलंबन देना है, उसे जीवन निर्माण का भागी बनाना है तो अस्तित्ववाद एक जीवन-दर्शन के रूप में असफल है।

———

फ्रेडरिक नीत्शे

जीवन एवं स्वभाव

नीत्शे का जन्म 16 अक्टूबर, 1844 ई० में रॉकेन (जर्मनी) में हुआ।[1] उनके पिता पादरी थे। अतः उनका पालन-पोषण धार्मिक वातावरण में हुआ। छुटपन से ही उनकी पादरी बनने की उत्कट अभिलाषा थी। वे एक मधुर प्रकृति के विनम्र, सहृदय तथा आत्म-प्रबुद्ध व्यक्ति थे। किन्तु अत्यंत उच्चाभिलाषी, कुतर्कप्रेमी, विद्रोही तथा भावुक स्वभाव के होने के कारण वे दुष्ट बुद्धि हो गए, और हो गए अनीश्वरवादी। उनकी महत्वाकांक्षाएँ विषम परिस्थितियों द्वारा निर्ममतापूर्वक कुचली गईं। उनके जीवन की घटनाएँ उनके निराशापूर्ण और कटुतापूर्ण जीवन पर प्रकाश डालती हैं। वे सेना के किसी उच्च पद पर होना चाहते थे। पर अपनी क्षीण चक्षुशक्ति, अस्वस्थता और घोड़े से गिर पड़ने की दुर्घटना के कारण उन्हें सेना में स्थान नहीं मिला। वह जिस स्त्री को चाहते थे उसे भी न पा सके और, इस कारण, वे आजन्म अविवाहित रहे। वे बौद्धिक मित्रता के इच्छुक थे पर वहाँ भी, अपने स्वभाव के कारण, उन्हें सफलता नहीं मिली। अंत में अपनी ही मोल ली हुई विपत्तियों एवं अपनी असंभव उच्चाभिलाषा और असहिष्णुता के कारण उनके जीवन में असह्य एकाकीपन आ गया। वे इतने आक्रांत हो गए कि उनकी क्षुब्ध मनःस्थिति ने उन्हें पागल बना दिया। 1890 में उन्हें पागलखाने में भरती होना पड़ा और वहीं 25 अगस्त 1900 में वे निमोनिया से पीड़ित होकर चल बसे।

नीत्शे के दर्शन में धर्म-विषयक धारणाओं के विरुद्ध जो एक तीव्र प्रतिक्रिया मिलती है उसके लिए उनके अवचेतन के संस्कारों को ही दोष देना उचित होगा। उनकी तर्कबुद्धि अत्यंत तीक्ष्ण और घातक थी। अपनी अहंकारजनित महत्वाकांक्षा के कारण वे इस परिणाम पर पहुँचे कि पृथ्वी में अतिमानव से महान् कुछ नहीं है। अपनी घातक

---

1. Friedrich Nietzsche (1844-1900) जर्मन विचारक। उनके मुख्य ग्रंथ हैं : Thus Spake Zarathustra, Beyond Good and Evil, Genealogy of Morals, The Antichrist, Ecco Homo, The will to Power.

तथा देखिये—

Complete works translated into English in eighteen volumes, edited by Oscar Levy, London and Newyork.

तर्कबुद्धि के आधार पर उन्होंने असमानता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया तथा भगवान की सत्ता और मानवीय गुणों की वास्तविकता पर संदेह किया। पौरुषीय गुणों एवं कठोरता, निर्ममता, स्वार्थता आदि गुणों को वांछनीय बतलाते हुए उन्होंने केवल अतिमानव (शक्ति की महत्वाकांक्षावाला मानव) को ही जीवित रहने का अधिकार दिया और दर्शन को मनोवैज्ञानिक रूप से समझने का प्रयास किया।

शक्ति की आकांक्षा

शक्ति की आकांक्षा के सिद्धान्त को समझने के लिए शोपेनहावर और डार्विन के सिद्धान्तों को ध्यान में रखना होगा। शोपेनहावर के अनुसार विश्व का मूलतत्व जीने (जीवन) की आकांक्षा है। नीत्शे ने जीने की आकांक्षा को शक्ति की आकांक्षा का रूप दे दिया और समझाया कि शक्ति की आकांक्षा अनंत परिमाणों में परिवर्तित हो जाती है। इन परिमाणों के आधार पर वे विश्व की उत्पत्ति को समझाते हैं। अथवा शक्ति के परिमाण विभिन्न रूपों और आकारों में मिश्रित हो जाते हैं। जीवन के क्रम में प्रबल (शक्तिशाली) आकार निर्बल को शासित करते हैं। नीत्शे जिस भाँति निर्बल और प्रबल आकारों के माध्यम से जीवन विकास को समझाते हैं वह डार्विन के प्रभाव को परिलक्षित करता है। नीत्शे ने स्वयं अपने मत को डारविन के विरुद्ध कहा है। उनका कहना था कि उन्होंने जीवन-संघर्ष के बदले शक्ति-संघर्ष को माना है। डारविन के अनुसार प्रकृति का मूल नियम जीवन संघर्ष है। जीवित रहने के लिए प्राणी को संघर्ष करना पड़ता है। जीवन संघर्ष के क्रम में 'प्राकृतिक-चयन' के नियम के अनुसार योग्यतम की ही जीवन में विजय होती है। नीत्शे का कहना है इच्छा शक्ति जीवित रहने के लिए नहीं हैं, शक्तिशाली बनने के लिए है। अतः शक्तिशाली बनने की आकांक्षा अथवा प्रभुत्व प्राप्ति की महदाकांक्षा एक सर्वसामान्य प्रवृत्ति है। यह मौलिक सहजप्रवृत्ति है क्योंकि, "जहाँ कहीं भी मैंने चेतन प्राणी देखें हैं, वहाँ मैंने प्रभुत्वप्राप्ति की इच्छा पायी है···मनुष्य को आप सब कुछ संभव दे दीजिये—स्वास्थ्य, भोजन, आश्रय, भोग—किन्तु वह दुःखी और झक्की ही रहेगा क्योंकि दानव निरन्तर प्रतीक्षा में रहता है और उसे संतुष्ट करना पड़ता है।" शक्ति की आकांक्षा अथवा प्रभुत्व प्राप्ति की इच्छाशक्ति, नीत्शे के अनुसार, मौलिक नैतिक इच्छा है। शक्ति की महत्वाकांक्षा को मूल एवं सर्वसामान्य प्रवृत्ति मानने के कारण वे डार्विन द्वारा की गई जीवप-संघर्ष की व्याख्या को स्वीकार नहीं करते हैं। डार्विन ने विकासक्रम को प्राकृतिक चयन, जीवन-संघर्ष, परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन, योग्यतम की विजय एवं प्राकृतिक चयन और आनुवंशिकता के आधार पर समझाया। उनका कहना है कि जीवित रहने के लिए जीवयोनियों एवं प्राणियों को परिस्थितियों—अपने परिवेश तथा अन्य प्राणियों—के साथ निरंतर संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्ष में वे जीव ही बच पाते हैं जो वातावरण के अनुरुप अपने को बदल सकते हैं:

"अनुकूल परिवर्तनवाली जीवयोनियाँ सुरक्षित रहती हैं और प्रतिकूलवाली नष्ट हो जाती हैं।" किन्तु नीत्शे का शक्ति की महत्वाकांक्षा का सिद्धांत जीव का वातावरण के साथ सामंजस्य के सिद्धांत का विरोधी है। उनका कहना है कि मानव की मूल प्रवृत्ति शक्ति की महत्वाकांक्षा है। उसे अपने आपको परिवेश के अनुरूप ढालने, उसके साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास नहीं करना चाहिये, वरन् परिवेश को अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना चाहिए। जो परिवेश पर विजय पाता है—वही, वास्तव में, जीवित रहता है।

अतिमानव का सिद्धान्त

प्राचीन यूनानी सभ्यता और संस्कृति ने व्यक्तित्व के विकास को महत्व दिया था। नीत्शे व्यक्तित्व के विकास की धारणा से प्रभावित हुए। उन्होंने इस धारणा को शक्ति की महत्वाकांक्षा के सिद्धान्त का रूप दे दिया। उनका कहना था कि मानव को अतिमानव बनाने एवं अतिमानवों के उत्थापन और संवर्धन के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करना चाहिए : "मनुष्य जाति को सदैव महापुरुषों को उत्पन्न करने का प्रयास करना चाहिए—इसके अतिरिक्त उसका और कोई दूसरा कर्त्तव्य नहीं है।" मानवों और अतिमानवों के भेद को नीत्शे शक्ति की महत्वाकांक्षा के आधार पर समझाते हैं। अतिमानवों में शक्ति की महत्वाकांक्षा पूर्ण रूप में प्रस्फुटित हो जाती है। वे इसके बारे में सचेत होते हैं। उनकी महत्वाकांक्षा ही उनका मार्गदर्शक बनती है। उनकी अहंमन्यता उनमें उनके अधिकारों के प्रति आत्मदृढ़ता उत्पन्न कर प्रतिकार की भावना और संघर्ष की इच्छा को पूर्णरूप से जाग्रत कर देती है। नीत्शे मानते हैं कि विकास का ध्येय अतिमानव है जो तेजस्वी व्यक्तित्ववान्, नैतिक और आध्यात्मिक गुण सम्पन्न व्यक्ति है। अतिमानव सदैव अपनी इच्छाशक्ति तथा अपने दृढ़ संकल्प द्वारा अपने सजातियों पर शासन करता है; वह शक्तिशाली, प्रभावशाली, साहसिक तथा निर्भीक है; उसमें स्वाभिमान, धृष्टता, उच्छृंखलता, स्वार्थता, विलासिता, अहंता, कठोरता, युद्धप्रेम, प्रगल्भता आदि पौरुषीय गुण भली-भाँति विकसित हैं। ऐसे व्यक्ति को ही नीत्शे सुसंस्कृत, शिष्ट, दृढ़ संकल्पवाला स्वस्थ शरीर का मानव, अतिमानव मानते हैं और उसे ही जीवित रहने का अधिकार देते हैं। इस अतिमानव की तुलना में मानव घृणित और उपेक्षणीय है : "मनुष्य के सम्मुख बन्दर क्या है ? एक हास्यास्पद वस्तु, एक लज्जा की वस्तु; अतिमानव के सम्मुख मनुष्य की भी यही स्थिति होगी, एक हास्यास्पद तथा लज्जा की वस्तु" अतः विकास की अन्तिम स्थिति नैतिक, आध्यात्मिक गुण-सम्पन्न बलिष्ठ मानवों की होगी क्योंकि प्रकृति में सर्वत्र निष्ठुर, निर्भीक, शक्तिशाली तथा शासन करने वाले प्राणी ही विजयी और जीवित रहते हैं। असमर्थ पर समर्थ की विजय ही जीवन का नियम है। इस नियम की अवहेलना करना पाप है अथवा मनुष्य जाति का कर्त्तव्य है कि

वह अतिमानवों का संवर्धन करें। अतिमानवों को विकास का लक्ष्य एवं पृथ्वी की सार्थकता मानने के कारण ही नीत्शे ने यह माना है कि सुकरात ने तार्किक बुद्धि की उत्कर्षता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके तथा ईसाई धर्म ने समानता, विनम्रता, दया, त्याग आदि को उत्कृष्ट गुण कह कर अतिमानवों का तिरस्कार किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय सभ्यता का पतन हो गया। उनका यह भी कहना था कि ईसाई धर्म का ह्रास संत पाल के कारण हुआ।

समस्त मान्यताओं का पुनर्मूल्यीकरण

नीत्शे का विश्वास था कि अतिमानवों का प्रादुर्भाव आज के युग के मानवों के लिए सम्भव है। किन्तु इसके लिए उन्हें नयी मान्यताओं की सूची को स्वीकार करना होगा एवं समस्त मान्यताओं के पुनर्मूल्यीकरण में विश्वास करना होगा। मानवों को चाहिये कि अतिमानवों के संवर्धन अथवा प्रादुर्भाव के लिये पुराने आदर्शों, नैतिक नियमों, सोद्देश्य नैतिकता, उपयोगितावादी नैतिकता, ईसाई धर्म एवं अन्य धर्मों द्वारा स्वीकृत सद्गुणों का त्याग कर दें। क्योंकि मान्यताओं तथा नैतिक नियमों का मूल आधार शक्ति की महत्वाकांक्षा है। हमें उन्हीं नियमों को स्वीकार करना चाहिए जो प्रभुत्व की आकांक्षा की अभिवृद्धि में सहायक हैं। वास्तव में नीत्शे ने उन सभी मान्यताओं, नियमों, आदर्शों का ध्वंसात्मक खण्डन किया जो मानव जाति की समानता की धारणा पर आधारित हैं। उनके अनुसार विनम्रता, सहिष्णुता, समानता, दान, दया आदि कायरों के गुण हैं। एकता, विश्वप्रेम आदि के सिद्धान्त पशुताभरे तथा मूर्खतापूर्ण हैं। ये समानता के पोषक हैं। शक्ति की महत्वाकांक्षा यह प्रमाणित करती है कि मानव और अतिमानव में महान् भेद हैं। भगवान् के नाम पर सबको समानता की श्रेणी में रखना अतिमानव का तिरस्कार करना है। हम 'शाश्वत मूल्य या ईश्वर के नाम पर अपने अन्तर्बोध को शांत नहीं कर सकते हैं। अतिमानव श्रेष्ठ व्यक्तित्व है, उसे ही जीने और सुख भोगने का अधिकार है। अतः हमें पुराने आदर्शों का त्याग कर उन आदर्शों को स्वीकार करना चाहिये जो शक्ति की महत्वाकांक्षा को अभिव्यक्ति देते हैं। अतिमानव को महत्व देते हुए वे ईश्वर की धारणा का खण्डन करते हैं क्योंकि ईश्वर पर आस्था रखने के कारण हमने अतिमानव की उपेक्षा कर दी है, हम उसे भूल गये हैं। अथवा 'सब देवता मर गये हैं : अब हम चाहते हैं कि अतिमानव जीवित रहें।' यह मानते ही कि 'पुराना ईश्वर मर गया है' मन में आश्चर्य, आकांक्षा तथा स्वतन्त्रता की भावना उत्पन्न हो जायेगी और तब सब लोग जीवन की प्रगति की ओर सन्नद्ध हो जाएँगे।

नैतिकता का मापदण्ड

नैतिकता का मापदण्ड शक्ति की महत्वाकांक्षा है अथवा संस्कृति का एकमात्र ध्येय मानव स्वभाव का उन्नयन करना है एवं अतिमानव को उत्पन्न करना है। अतः

नीत्शे शुभ-अशुभ की नवीन परिभाषा देते हैं। वे शक्ति की महत्वाकांक्षा को मौलिक नैतिक गुण कहते हैं। अन्य सभी नैतिक गुणों और प्रत्ययों को इसी के आधार पर समझाते हैं। शुभ वह है जो शक्ति की इच्छा की वृद्धि करता है तथा जीवन की प्रगति में सहायक है। अशुभ वह है जो शक्ति की महत्वाकांक्षा एवं प्रभुत्व प्राप्ति की महत्वाकांक्षा को दुर्बल और शक्तिहीन बनाता है। अथवा "वह सब जो शक्ति से आता है शुभ है और वह सब जो दुर्बलता से आता है अशुभ है।" सुखवाद की आलोचना करते हुए वे कहते हैं कि व्यक्ति अपने कर्मों को सुख और दुःख की भावना से प्रेरित होकर नहीं करता है और न ये उनके स्वभाव को शासित करते हैं। मानव-स्वभाव, मानव-कर्म तथा मानव-मान्यताएँ आदि प्रभुत्व-प्राप्ति की महत्वाकांक्षा पर निर्भर हैं। सुख-दुःख इसी आकांक्षा के परिणाम हैं। जब हम इसे संतुष्ट नहीं कर पाते हैं तब दुःख मिलता है और जब संतुष्ट कर लेते हैं तब सुख मिलता है।

प्रभुओं और दासों की नैतिकता

नीत्शे वर्ग भेद में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार दो वर्ग हैं : शासकों का वर्ग तथा शासितों का वर्ग। इन दो वर्गों के अनुरूप ही दो प्रकार की नैतिकता है : स्वामियों की नैतिकता तथा दासों की नैतिकता। दासों से उसका अभिप्राय सामान्य व्यक्तियों से है। इनके जीवन का एकमात्र अर्थ यही है कि ये अतिमानवों एवं स्वामियों की सेवा करें। अतिमानवों को उन बंधनों से मुक्त करने के लिए जो जीवन की प्रगति में अहितकर हैं उन्होंने नैतिकता को दो वर्गों में विभाजित कर दिया। उनका कहना था कि जनसाधारण को धर्म में विश्वास करना चाहिए। जनसाधारण—दासों—की नैतिकता के अंतर्गत वह शुभ की वही परिभाषा देता है जो ईसाई धर्म, उपयोगितावादी नैतिकता अथवा प्रचलित नैतिकता द्वारा स्वीकृत है। साधारण मानव शक्ति और असमानता में विश्वास नहीं कर सकते। उनके लिए शुभ आचरण वही है जो समानता पर आश्रित तथा सुखप्रद है। दासों का धर्म में विश्वास होना चाहिए। यह उनके लिए एक निश्चयात्मक आवश्यकता है। प्रभुओं का कर्त्तव्य है कि वे दासों को इस नैतिकता को मानने के लिए प्रोत्साहित करें। दासों को धार्मिक विश्वास दिलाकर वे उन्हें सरलता से अपने अधीन कर सकते हैं। अतिमानवों—प्रभुओं—की भलाई, उनके विकास के लिए यह आवश्यक है कि दास उनकी सेवा करें। प्रभुओं की नैतिकता अतिमानवों की नैतिकता है। यह अतिमानवों के संवर्धन तथा प्रभुत्वशक्ति की इच्छा के विकास की नैतिकता है। अतिमानव दासों से श्रेष्ठ हैं। उन्हें प्रचलित नैतिक मान्यताओं (दासों की नैतिकता) को नहीं मानना चाहिए। आज की विकसित परिस्थितियों एवं सामाजिक स्थितियों का अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि त्याग, दया, विश्वबंधुत्व, सेवा आदि गुण निकृष्ट और अयोग्य हैं। मानव-विकास के साथ गुणों का स्वरूप बदलता

है एवं नैतिक प्रत्यय सापेक्ष होते हैं; नैतिक प्रत्यय अथवा सत्-असत् की धारणाएं देश, काल तथा परिस्थितियों पर निर्भर होती हैं। अतः नैतिक विभक्तियां शाश्वत नहीं हैं। वे जैव, भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं अथवा समयानुसार परिवर्तित होती रहती हैं। नीत्शे का कहना था कि अतिमानव अपने सुख और सुविधानुसार नैतिक नियमों का निर्माण और ध्वंस करने का पूर्ण अधिकार रखता है। अतिमानव सत्य की रूपरेखा निर्धारित कर सकता है। यहां पर वे यह भी मानते हैं कि अतिमानव 'शुभ-अशुभ से परे' है। उसके कर्म अपने-आप में इतने पूर्ण होंगें कि कोई भी निर्धारित नियम उनका मूल्यांकन करने में असमर्थ रहेगा। अतिमानव के आचरण के औचित्य को प्रमाणित करने की आवश्यकता भी नहीं है, वह स्वयं अपना मापदण्ड है। अतिमानवों अथवा प्रभुओं की नैतिकता उन गुणों को स्वीकार नहीं करती है जो दासों के लिए आवश्यक हैं। प्रभुओं की नैतिकता के अनुसार क्रूरता, प्रतिशोध, उच्छृंखलता, उद्दण्डता और स्वायत्तीकरण शुभ गुण हैं। दासों को हेय समझना और उन पर शासन करना उचित है। अतिमानवों का दासों के प्रति कठोर व्यवहार होना चाहिए। अतिमानव संस्कृति की थाती हैं, वे जीवन का प्रयोजन हैं। उनके लिए यह अनुचित और अनैतिक है कि वे दासों पर दया दिखाएँ और दासों का कर्त्तव्य है कि वे अपने-आपको अतिमानव के आगमन के लिए साधन माने।

अस्तित्ववादी तत्व

नीत्शे के दर्शन में अस्तित्ववादियों को अस्तित्ववाद के तत्व वर्तमान मिलते हैं। नीत्शे ने व्यक्ति के अस्तित्व को महत्व दिया है। उनके अतिमानव का सिद्धान्त अथवा स्वामियों की नैतिकता परम्परागत एवं प्रचलित नैतिकता का विरोध करती है। शक्ति की महत्वाकांक्षा को महत्व देकर उन्होंने पलायनवाद के विपरीत अतिमानव को जीने और सुख भोगने का अधिकार दिया है। अतिमानव विषम परिस्थिति से मुंह नहीं मोड़ता है, वरन् उसका सामना करता है और उस पर विजयी होता है। नीत्शे की कृतियां, विशेषकर जरथुस्त्र, उनके भोगे हुए अकेलेपन को वाणी देती हैं। जरथुस्त्र में वे अपनी अकथनीय परित्यक्तता को हृदयविदारक अभिव्यक्ति देते हैं। यह अभिव्यक्ति अस्तित्ववाद की थाती है। अस्तित्ववाद ने दर्शन के सैद्धान्तिक आधार को समझने का प्रयास नहीं किया वरन् ऐसे प्रयास को अनुचित ही ठहराया। उसका कहना है कि अस्तित्ववान् व्यक्ति अपने अनुभव और चिंतन से वास्तविक दर्शन को जन्म देता है। नीत्शे का दर्शन उनके मनोविज्ञान की उपज है। वह उस संस्कृति का आलोचक है, उस मानवीय मापदण्ड का तीव्र विरोधी है जो मानव जाति के लिए कल्याणकारी है। नीत्शे, वास्तव में, अपने ही अहंजनित भाग्य से संघर्षरत हैं। इसी कारण वे ईसाई धर्म एवं किसी भी धर्म में निहित अच्छाइयों का इसलिए खण्डन करते हैं कि वे समानता, प्रेम एवं त्याग की भावनाओं पर

आधारित हैं। ईसाई धर्म के लिए उनका कहना है कि इस धर्म ने त्याग अथवा क्रूस (सूली) की धारणा को अपनाकर मनुष्य की स्वतन्त्रता, अभिमान और आत्म-विश्वास को नष्ट करने का प्रयास किया है। किन्तु यह दासता है, स्व-उपेक्षा एवं स्व-उपहास है, और है, स्व-हनन! उनका व्यक्तिगत मनोविज्ञान कांट के परमार्थतत्व को स्वीकार नहीं करता है। वे कांट के अज्ञेयवाद की नयी व्याख्या देते हुए कहते हैं कि हम विचार द्वारा अस्तित्व को नहीं जान सकते हैं क्योंकि पहले अस्तित्व है, तब विचार है। अस्तित्ववान् व्यक्ति अपने अस्तित्व के माध्यम से ही वास्तविकता को जान सकता है अथवा कोई भी दर्शन वास्तविकता से विमुख होकर नहीं जी सकता है। वे वास्तविकता—वस्तुनिष्ठता—को अस्तित्ववादी आधार दे देते हैं। क्योंकि उनके अनुसार वस्तुनिष्ठता को हम अस्तित्व के माध्यम से ही जान सकते हैं। हेगल के वस्तुगत प्रत्ययवाद का वे किर्कगार्ड की भाँति अस्तित्ववादी दृष्टि से खण्डन करते हैं।

मूल्यांकन

नीत्शे ने जीवन सत्य को जीव-विकास के क्रम के रूप में देखा। 'योग्यतम की विजय' अथवा 'प्राकृतिक चयन' के सिद्धान्त ने उन्हें अपने बचपन के आदर्श, जरथुस्त्र को अतिमानव के रूप में साकार करने के लिए प्रेरित किया। उनका कहना था कि मानव-जाति अपना अतिक्रमण करके ही अपना संरक्षण कर सकती है। अपने इस एकमात्र उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उसे उनकी बनाई हुई नयी मान्यताओं की सूची को स्वीकार करना होगा। मानव की उन्नति के लिए अथवा अतिमानवों के प्रादुर्भाव के लिए उन्होंने जिन गुणों को महत्ता दी उनको यदि वास्तविक और व्यावहारिक रूप दिया जाय तो यह कहना अनुचित न होगा कि मनुष्य को मूर्तिमान नृशंसता और निर्ममता का पूजन करना होगा। यह ऐतिहासिक और राजनैतिक सत्य भी है कि नीत्शे के सिद्धान्त ने फासिस्तवाद (अधिनायकवाद), तानाशाही तथा दो भयंकर विश्वयुद्धों को जन्म दिया। नीत्शे ने युद्ध का समर्थन किया। क्योंकि वे केवल अतिमानवों अथवा शक्तिशाली राष्ट्रों को जीवित रहने का अधिकार देना चाहते थे। शक्ति को महत्व देने के कारण उन्होंने उन राष्ट्रीय सिद्धान्तों का विरोध किया जो सबको समान अधिकार देना चाहते हैं। वे प्रजातंत्रवाद, समाजवाद आदि को दुर्बलों और कायरों का सिद्धान्त मानते हुए युद्ध को अतिमानवों की शक्ति प्रदर्शन के लिए एक शुभ और आवश्यक कर्म घोषित करते हैं। उनका यह भी कहना था कि इसके द्वारा दुर्बल और अयोग्य व्यक्ति तथा जातियों का नाश होता है। नीत्शे के युद्ध के यशगान ने जर्मनी वालों को प्रभावित किया। वहां के नेताओं ने इसे संस्कृति और सभ्यता के लिए आवश्यक मानकर इसका आह्वान किया।

नीत्शे की नैतिकता अपने मूल रूप में अनैतिक है। वह असमानता की धारणा, शक्ति की महत्वाकांक्षा पर आधारित है। वह संकल्प की स्वतन्त्रता, ईश्वर का अस्तित्व तथा आत्मा की अमरता की विरोधी है। नीत्शे मानते हैं कि संकल्प की स्वतन्त्रता मिथ्या कल्पना है, कर्म सोद्देश्य नहीं होते हैं, भगवान् मर चुका है। भगवान् की सत्ता में विश्वास करना अतिमानव का उपहास करना है। आत्मा अमर नहीं है, वह मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाती है। तत्वज्ञान की दृष्टि से नीत्शे न तो सत्तात्मक एकता में विश्वास करते हैं और न नैतिकता की दृष्टि से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में। वे धर्मों की मूल एवं आधारभूत समानता की धारणा को भी भ्रमात्मक कहते हैं।

नीत्शे का सिद्धांत तार्किक नहीं है। उसकी नींव मनोविज्ञान में है। यह उनके अपने जीवन के सूनेपन, कुण्ठा तथा दारुण अनुभव की उपज है। और इस दारुण अनुभव के मूल में है उनकी असम्भव महत्वाकांक्षा। यही कारण है कि ईसाई धर्म, नैतिक मान्यताओं आदि का खण्डन वे एक जड़वादी वैज्ञानिक की भाँति नहीं करते हैं। यह उनकी अहंयुक्त इच्छा—महदाकांक्षा—है जो शोभन, मानवोचित संस्कृति को सह नहीं पाती है। इसी कारण वे यह भी मानते हैं कि ऐतिहासिकता मूल्यों को निर्धारित नहीं कर सकती है। मनुष्य अब चिन्तनशील हो गया है। उसे अपने दायित्व और स्वतन्त्रता को स्वयं समझना चाहिए। अपनी पुस्तक 'शुभ-अशुभ से परे' में वे अपने पूर्वगामी सिद्धान्तों की चिन्तन-प्रणालियों की आलोचना द्वारा अपने 'शक्ति की आकांक्षा' के सिद्धान्त का निर्माण तथा उसका स्पष्टीकरण करते हैं। उन्होंने सत्य के सापेक्ष रूप एवं सद्गुणों के ऐतिहासिक मूल्य को समझाने का प्रयास किया। नैतिकता के प्राकृतिक इतिहास एवं उसके उद्गम का परीक्षण करके दासों की नैतिकता तथा स्वामियों की नैतिकता की संहिताओं के द्वैत की स्थापना की अथवा अतिमानवों के प्रादुर्भाव के लिए समस्त मान्यताओं के पुनर्मूल्यीकरण को महत्व दिया।

अपने दर्शन के बारे में नीत्शे का कहना है। "अच्छे स्वास्थ्य की आकांक्षा और जीवन की इच्छा से मैंने अपने दर्शन का निर्माण किया है······आत्म-संरक्षण ने मुझे उस दर्शन का अभ्यास करना वर्जित कर दिया है जो मनहूस और निराशावादी है।" किन्तु उनका दर्शन संदेहवाद, निराशावाद अथवा नास्तिवाद का अतिक्रमण नहीं ही कर पाया है। यद्यपि नीत्शे ने कहा कि वे संस्कृति के समर्थक हैं और इस दृष्टि से वे अतिमानव को 'संस्कृति का अभिजात' कहते हैं। किन्तु उनका दर्शन संस्कृति का विरोधी है। उसमें वे सब तत्व मिलते हैं जो संस्कृति के विनाश में सहायक हैं। "जिस प्रकार उनके व्यक्तिगत जीवन का अंत पागलपन में हुआ, उसी प्रकार उनके दर्शन की अंतिम परिणति भी एक विरोधाभास में हुई। क्योंकि संस्कृति का दर्शन होते हुए भी उसके भीतर संस्कृति के विरोधी तत्व वर्तमान हैं।"[1]

1. Frederick Copleston : Friedrich Nietzsche (Second impression), p. 203.

सोरेन किर्कगार्ड

जीवन एवं महत्वपूर्ण घटनाएँ

किर्कगार्ड[1] के दर्शन को उनके जीवन और जीवन-काल के सन्दर्भ में समझना होगा। वे कोपेनहेगन में उत्पन्न हुए, वहीं रहे और वहीं उनकी मृत्यु हुई। किर्कगार्ड एक व्यक्तिगत चिंतक हैं—उनका चिंतन उनके वैयक्तिक अनुभवों को प्रतिबिम्बित करता है अथवा उनके दर्शन में उनकी आत्म-जीवनी की झलक मिलती है। किर्कगार्ड के पिता अत्यधिक उदास प्रवृत्ति के थे। वे अपने पिता की सबसे छोटी संतान थे और अपने पिता से अत्यधिक प्रभावित थे। जब उनके पिता छोटे ही थे तब एक दिन अपने दुखपूर्ण जीवन के लिए उन्होंने ईश्वर को मन ही मन दोषी ठहराया। यह बात अपने-आप में कोई महत्व नहीं रखती किन्तु जब किर्कगार्ड को उन्होंने यह बतलाया तो वे आतंकित हो गए और उन्हें लगा कि उनके परिवार पर भगवान् की कोपदृष्टि पड़ गई है। इसका कारण यह भी था कि उनके पिता दृढ़ व्यक्तित्व के प्रतिभावान् व्यक्ति थे। उन्होंने सदैव ही उन्हें एवं अपने बच्चों को कठोरतापूर्वक भगवान् का भय दिखाया था। इस आंतरिक आतंक के साथ युक्त हो गई उनकी निराशापूर्ण कठिन रूढ़िवादी लूथेरियन शिक्षा और परिणामतः उनकी बाल्यावस्था तथा युवावस्था नीरस और निरानन्द रही। उन्हीं के शब्दों में, "मैंने कभी भी आसन्नता प्राप्त नहीं की, और इसलिए, मानवीय अर्थ में, मैं नहीं जिया; मैंने चिंतन से प्रारम्भ किया···मैं, वास्तव में, आदि से अन्त तक चिंतन

1. Soren Kierkegaard, (डेनिश दार्शनिक) 5 मई, 1813–11 नवम्बर, 1855 सौन्दर्यशास्त्र,धर्म और दर्शन सम्बन्धी 43 कृतियों के प्रणेता। महत्वपूर्ण कृतियाँ—Concluding Unscientific Postscript; Either/or; Philosophical Fragments; The Concept of Dread; The Sickness Unto Death, The Present Age; Repetition.

किर्कगार्ड की उपर्युक्त एवं सभी महत्वपूर्ण कृतियाँ अंग्रेजी में अनुदित हो चुकी हैं। प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस तथा ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित हैं।

ही हूँ।" प्रतिभावान् और विनोदपूर्ण होने पर भी चिंतन केन्द्रित होने के कारण किर्कगार्ड ने अपनी मानसिकता, अपने काल्पनिक रूपों का जीवन जिया। यही कारण है कि वे स्कूल, विश्वविद्यालय, समाज आदि में दूसरों के साथ घुल-मिल नहीं पाए वरन् व्यंग्य के पात्र बन गए। इसके साथ ही किर्कगार्ड के जीवन और चिंतन को कुछ घटनाओं ने अत्यधिक प्रभावित किया। पिता के स्वभाव और उनकी मृत्यु की चर्चा करते हुए वे अपने निराशापूर्ण एवं दुःखी स्वभाव पर प्रकाश डालते हैं। उनका कहना है कि उनके पिता ने सब तरह से उन्हें इतना दुःखी होने दिया जितना हुआ जा सकता है। परिणामतः उनका यौवन अनुपम मानसिक अनुताप में झुलस गया किन्तु समांतर में इससे वे सच्ची ईसाइयत के प्रति जाग्रत हुए। "तब वह ''' भूकम्प आया, वह भयंकर क्रांति जिसने समस्त तथ्यों की व्याख्या के लिए एक नए और अमोघ नियम को एकदम मुझ पर आरोपित कर दिया। तब मुझे लगा कि मेरे पिता की लम्बी आयु दिव्य वरदान नहीं थी वरन् एक अभिशाप थी तथा हमारे परिवार को असाधारण बौद्धिक उपलब्धियाँ केवल इसलिए प्राप्त थीं कि हम लोग एक-दूसरे को विदीर्ण कर दें। जब मैंने अपने पिता को एक दुःखी मनुष्य के रूप में देखा तब मैंने अपने चारों ओर मृत्यु की निस्तब्धता का अनुभव किया।"[1]

स्वभाव से एकाकी किर्कगार्ड को एकाकी जीवन भी बिताना पड़ा। सन् 1841 में उन्होंने अपनी मानसिक स्थिति के वशीभूत होकर अपनी प्रेयसी रेगिना[2] से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। वास्तव में इसके मूल में उनकी उदासी एवं हताशा थी—उनकी चित्तवृत्तियाँ, निर्णय-अनिर्णय का क्लेशपूर्ण संघर्ष एवं आत्म-पीड़न की वह मानसिक स्थिति थी जिसने इसमें धार्मिक चेतना का विकास देखा। पर रेगिना से सम्बन्ध-विच्छेद की विचित्र प्रतिक्रिया उनके अन्दर हुई—उनके अन्दर का दुःख एवं उदासी अपने-आपको साम्राज्ञी समझने लगी, और उन्हें लगने लगा कि उनका व्यक्तित्व ही ऐसा है जो दुःख में प्रसन्नता अनुभव करता है।[3]

---

1. A Kierkegaard Anthology : ed. Robert Bretall (Princeton University Press, p. 11, Paperback, 1973)

2. Regina Olsen.

3. उनके स्वभाव के इस पक्ष को उनका यह कथन यथातथ्य अभिव्यक्ति देता है, "जब भगवान् किसी व्यक्ति को अपने से मिलाना चाहता है तब वह अपनी सबसे अधिक विश्वस्त सेविका उदासी को बुलाकर कहता है—शीघ्रता करो, उसे ग्रहण करो, देखो कभी उसके पास से मत हटना। और सच, संसार की कोई भी स्त्री अपने प्रेमी को ऐसा मृदु आलिंगन नहीं दे सकती जैसा कि यह उदासी देती है।"

इन दो वैयक्तिक घटनाओं के अतिरिक्त उन्हें अपने समाज—साहित्यिक और धार्मिक परिवेश—की आलोचनाएँ सहनी पड़ीं। कोरसेयर पत्र में वे मीर गोल्डस्मिथ की उस तीखी शरवत् आलोचना के पात्र रहे जिसे उन्होंने स्वयं अपने स्वभाव से विवश होकर आमंत्रित किया था—उन्होंने पहले पादरियों की आलोचना की और फिर जब पादरियों ने उनका तीखा विरोध किया तो यह विरोध सहना उनके लिए असह्य हो गया, उनका स्वास्थ्य टूट गया। 2 अक्टूबर, सन् 1855 को कोपेनहेगन की सड़क पर चलते हुए वे बेहोश हो गए और 11 नवम्बर को उनकी मृत्यु हो गई।

अमूर्त दर्शन का विरोध : सत्य आंतरिक एवं विषयीनिष्ठ है।

किर्कगार्ड का जन्म एक ऐसे समय में हुआ जब जर्मनी का बौद्धिक वर्ग हेगेल के दर्शन से अत्यधिक प्रभावित था। ऐसे समय में उन्होंने एक नवीन क्रांतिकारी चिंतन पद्धति को जन्म दिया। निःसंदेह इसके मूल में उनका हेगेलियन दर्शन, ईसाई धर्म तथा यूनानी दर्शन का गहन अध्ययन था। इस अध्ययन के परिणामस्वरूप उन्हें लगा कि ईसाई धर्म को प्रत्ययों के आदर्शवादी सिद्धान्त में परिणत करने का हेगेल का प्रयास नितान्त असफल और अनुचित था। अमूर्त दर्शन को छोड़ना उन्हें आवश्यक लगा, उन्होंने अपने-आपको पुरोहितगिरी के लिए तैयार किया। सन् 1841 में कोपेनहेगन की चर्च में अपना प्रथम प्रवचन देने के साथ ही उन्होंने अनुभव किया कि ईसाई जीवन को उसके सच्चे अर्थ में समझना और जीना अनिवार्य है। वे चर्च के बाहरी रूप, दिखावा अथवा आडम्बर, को सह नहीं पाए और पुरोहितगिरी को छोड़ने के लिए विवश हो गए। यह, एक प्रकार से, एकाकी जीवन को अपनाना था। इसके पश्चात् उन्होंने कई पुस्तकों का प्रणयन किया। इन सभी का मूलगत तत्व धर्म ही है। इस दृष्टि से किर्कगार्ड अस्तित्ववादी धर्मवेत्ता हैं अथवा उनके दार्शनिक विचारों की मणियाँ नैतिक-धार्मिक[1] सूत्र में पिरोई हुई मिलती हैं। उनकी दार्शनिकता का केन्द्र सत्य व्यक्ति का अस्तित्व है यद्यपि मूलाधार धर्म है। उनकी मूल समस्या है—ईसाई जगत में ईसाई होने का क्या अर्थ है?

वस्तुतः किर्कगार्ड का अस्तित्ववादी धर्म-दर्शन[2] ईसाई धर्म में निहित सच्चाई तथा व्यक्ति-अस्तित्व की धारणा को अपनाने का आकांक्षी होने के कारण मूर्त आत्मनिष्ठ

---

1. किर्कगार्ड ने किसी नैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया, पर फिर भी, उनका दर्शन नैतिक सच्चाई की चेतना से युक्त है।

2. उनके अस्तित्ववादी धर्म-दर्शन ने दो शाखाओं—अस्तित्ववादियों की दार्शनिक शाखा तथा कार्ल बर्थ और एमिल ब्रूनर की द्वंद्वात्मक ईश्वरज्ञान की शाखा का प्रवर्तन किया।

अस्तित्व को अत्यधिक महत्व देता है। इस कारण यह हेगेल के परमचित् के सिद्धान्त एवं आधुनिक दर्शन की अमूर्त विषयनिष्ठता और सारतत्ववाद का आलोचक है। किर्कगार्ड आधुनिक दर्शन की परिकल्पनात्मक प्रणाली एवं सारतत्ववादी तत्वविज्ञान के भी विरोधी हैं। साथ ही उनका कहना है कि आधुनिक दर्शन ने व्यक्तिगत नीतिशास्त्र का खण्डन तथा व्यावहारिक ज्ञान के प्रति उदासीनता प्रकट करके उचित नहीं किया है। मूर्त आत्मनिष्ठ अस्तित्व को महत्व देते हुए "आइदर/ऑर"[1] में किर्कगार्ड कहते हैं, "व्यक्ति में सत्य बाहर से नहीं आता, वह उसके अन्दर सभी समय वर्तमान था।" यही, उनके अनुसार, अस्तित्ववादी चिंतन और अमूर्त चिंतन में अंतर है। अमूर्त चिंतन परिकल्पित ज्ञान प्राप्त करता है, वह तार्किक प्रणाली से सम्भावनाओं के क्षेत्र का अन्वेषण करता है। किन्तु अस्तित्ववादी सत्य वह भावावेशपूर्ण आंतरिक प्रतिबद्धता है जो वस्तुगत और सैद्धांतिक दृष्टि से तो अनिश्चित है किन्तु अस्तित्ववान् व्यक्ति के लिए प्राप्य उच्चतम सत्य है। किर्कगार्ड में निहित धार्मिकता तथा अस्तित्ववादिता दर्शन को ईसाई ईश्वरज्ञान, प्रोटेस्टेन्ट धर्म तथा आत्मनिष्ठता के आधार पर समझाने के लिए संकल्परत है। हेगेल ने वस्तुनिष्ठ चित् को महत्व देते हुए सत्य के वस्तुनिष्ठ स्वरूप पर प्रकाश डाला। किर्कगार्ड ने इसके विरुद्ध कहा कि आत्मनिष्ठता (व्यक्तिनिष्ठता) ही सत्य है अथवा सत्य आत्मनिष्ठता में निहित है। ईश्वर को सत्य मानते हुए वे इस धारणा को स्वीकार नहीं कर पाए कि ईश्वर को हम एक विषय की तरह जान सकते हैं एवं उनका कहना था कि बाह्य विषयों की भाँति ईश्वर एक विषय नहीं है, वह अनन्त आत्मनिष्ठता है, विशुद्ध क्रिया है। सत्य मनुष्य में भी है। मनुष्य जितना अधिक विशुद्ध आत्मनिष्ठता या आध्यात्मिक व्यक्ति बन जाता है वह उतने ही परिमाण तक सत्य भी हो जाता है। किर्कगार्ड ने हेगेल के विशुद्ध वैचारिक दर्शन की आलोचना की : "ऐसा दर्शन अस्तित्ववान् व्यक्ति के लिए कपोल कल्पना है।" क्योंकि यह उस सत्य की खोज करता है जो उसके जीवन का आधार है, जिसमें उसका अस्तित्व है।[2] अथवा विशुद्ध विचार पर

1. Either/or, 2 Vols.
Vol I. trans. D. F. Swenson and L. M. Swenson.
Vol. II trans. W. Lowrie (Princeton Paperback, 1971)

2. "Let a doubting youth, an existing doubter imbued with a lovable and unlimited youthful confidence in a hero of thought, Confidently seek in Hegel's positive philosophy the truth, the truth for existence...... let him submit himself unconditionlly···but with sufficient vigour of determination to hold fast to his problem : he will become a satirist withont suspecting him. The youth is an existing doubter. Hovering in doubt and without foothold for his life, he reaches out for the truth—in order to exist in it. He is negative and

चिंतन-मनन करने के विपरीत व्यक्ति को अपने प्रतिबद्ध चिंतन की समस्याओं और सम्भावनाओं पर सोचना चाहिए। अस्तित्ववान् व्यक्ति को इस पर विचार करना चाहिए कि उसे कैसे रहना चाहिए तथा उस जीवन को कैसे जीना चाहिए जिसे वह जानता है। किर्कगार्ड के अनुसार, इस दृष्टि से, हेगेलियन दर्शन आकाशीय उड़ान तो भरता है पर व्यक्ति को धरती पर रहना नहीं सिखाता है। हेगेल का दर्शन भी, उनकी दृष्टि में, कॉट के दर्शन की भाँति वास्तविक समस्या से रीता है। कॉट ने आधुनिक दर्शन में जिस प्रश्न को जन्म दिया—मैं क्या जान सकता हूँ ?—वह ज्ञान को एक चुनौती अवश्य देता है पर किसी को भी संतुष्ट नहीं कर पाता है। वह प्रतिभासित सत्ता के बारे में मानस के सिद्धान्तों और नियमों का दिग्दर्शन करा कर परमार्थ सत्ता को अज्ञेय रहने देता है और संदेहवाद तथा नास्तिवाद के बीज बो देता है। हेगेल भी विचार और सत्ता के ऐक्य को स्थापित करने में असफल ही रहा क्योंकि उसका सम्पूर्ण प्रयास यह सिद्ध नहीं कर पाया कि बोध सत्ता है वरन् उसका दर्शन इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि विशुद्ध विचार विशुद्ध कल्पना है।

हेगेल के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करते हुए किर्कगार्ड स्वीकार करते हैं कि हेगेल से उन्होंने बहुत कुछ सीखा है और अब भी सीख सकते हैं। हेगेल के दार्शनिक ज्ञान, व्यापक अध्ययन तथा तीक्ष्ण दृष्टि सम्पन्न प्रतिभा के कारण वे उनका गुरुत्व स्वीकार करते हुए समझाते हैं कि हेगेलियन दर्शन जीवन की यथार्थता से अछूता है, जीवन की आपाधापी से त्रस्त व्यक्ति को संबल प्रदान करने में असमर्थ है। अतः वे हेगेल के अमूर्त विचार तथा उनका सामान्य को महत्व देने, उनके मध्यस्थता के सिद्धान्त, (थीसिस, एन्टीथीसिस तथा सिन्थिसिस).[1] सर्वेश्वरवाद एवं सब भिन्नताओं और विशिष्टताओं को सर्वसमावेशी विश्व-मन में तिरोहित कर देने के विरुद्ध हैं। किर्कगार्ड के सम्मुख जीवन की समस्या ज्वलंत है। वे उस दर्शन, चिंतन या धर्म के आकांक्षी हैं जो व्यक्ति के अस्तित्व, उसकी सत्यता और जीवन को अभिव्यक्त करने की क्षमता रखता है। इसलिए उन्हें लगा कि हेगेल का वास्तविकता का भावात्मक दर्शन तथा वे दार्शनिक

the Philosophy of Hegel is positive—what wonder then that he seeks anchorage in Hegel. But a philosophy of pure thought is for an existing individual a chimera, if the trulh that is sought is something to exist in······the admiration and enthusiasm of the youth, his boundless confidence in Hegel, is precisely the satire upon Hegel."

Concluding Unscientific Postscipt, p. 275.

Trans. by David F. Swenson, completed and edited by Walter Lowrie (Princeton, 1941)

1. उनका कहना है कि हेगेल ने 'सिन्थिसिस' में दो विरोधी विचारों को स्वीकार किया है।

सिद्धान्त जो वस्तुगत सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं सच्चे दार्शनिक चिंतन को नहीं दे पाए हैं क्योंकि उन्होंने जीवन की वास्तविक समस्याओं को समझने और समझाने के विपरीत उनके प्रति पलायनवादी दृष्टिकोण रखा।

ईसाइयत का अर्थ : ईसाइयत प्रति ईसाइयत

अमूर्त दर्शन से निराश होकर ही किर्कगार्ड ईसाई धर्म की ओर वेगपूर्वक झुके थे, किन्तु केवल निराश होने के लिए। उन्हें यह धर्म संतोष नहीं ही दे पाया क्योंकि उन्हें चर्च के अधिकारियों, पादरियों एवं ईसाई लोगों के चिंतन और कर्म, कथनी और करनी में महान् भेद दीखा। उन्हें लगा कि ईसाई का ईसाई धर्म के बारे में बातें करना तथा वस्तुतः ईसाई का जीवन जीना भिन्न तथ्य हैं। वे ईसाइयत को उसके सच्चे रूप में समझाने के लिए व्याकुल हो गए। इसलिए जब पादरी माइन्स्टर की मृत्यु हुई तो उन्होंने सच्ची ईसाइयत के बारे में अपने उद्गार व्यक्त करने का एक अवसर पा लिया। यह अवसर उनके लिए आक्रामक बन गया क्योंकि इसने तीखें व्यंग्य, घृणा और निर्मम आलोचना की वर्षा से उन्हें आच्छादित कर दिया। पर इससे किर्कगार्ड के अन्दर का "ईसाई" और दृढ़ हो गया—उन्हें लगा कि यह ईश्वरेच्छा थी कि उन्हें यह विरोध सहना पड़ा। और यह विरोध, सहना 'कुछ न करने' की असफलता की शाश्वत् पीड़ा को सहने से कहीं अधिक वरणेय है। किर्कगार्ड-सा प्रबुद्ध और चिंतनशील व्यक्ति रूढ़िवादी धर्म को स्वीकार नहीं ही कर सकता था। रूढ़िवाद ने अपने-आप को जिन कुकृत्यों, प्रवंचनाओं और विधि-विधान के काँटों से युक्त कर दिया था उसे सहना उनके लिए असह्य था। वे धर्म में निहित सच्चाई की व्याख्या करने को कटिबद्ध हो गए।। अपने दर्शन में उन्होंने ईसाई धर्म को उसकी सच्चाई, उसके नए अर्थ में समझाना चाहा।

एक ओर तो किर्कगार्ड ने आडम्बरों एवं कुकृत्यों का विरोध किया और दूसरी ओर उस विचारधारा का विरोध किया जो बुद्धि और आस्था में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करती है। उनका कहना था कि सच्चा धार्मिक अपनी धार्मिकता को बाह्य रूप से अभिव्यक्त नहीं होने देता है क्योंकि वह जानता है कि ऐसा करने पर उसके अनुयायी हो जायेंगे और गुरुत्व का बोध उसमें गर्व की भावना को जन्म दे देगा। वह एक उत्कृष्ट प्रेमी की भाँति भगवान् के प्रति अपने प्रेम को छिपाए रखता है तथा इससे उसका प्रेम अधिक तीव्र होता है। धार्मिक व्यक्ति जगत् को छोड़ता नहीं है वरन् उसमें रहता है। पर साथ ही वह अपनी बाह्य क्रियाओं, कर्मों, व्यापारों का आंतरिकता में रूपान्तर कर देता है। उसका बाहरी व्यापार सामान्य सांसारिक मनुष्य की भांति होता है पर वह अपने अन्तर में अपने और अन्य लोगों के बीच, एक आवरण रखता है ताकि वह अपनी वेदना की आंतरिकता और ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध की रक्षा कर सके। इसी दृष्टि से किर्कगार्ड उन धार्मिक उपदेशकों और साधुओं के आलोचक हैं जो बाहरी दिखावे

और प्रवचनों द्वारा अपने भगवद्प्रेम का प्रदर्शन करते हैं। किर्कगार्ड उन लोगों का भी विरोध करते हैं जो धर्म-निरपेक्ष संस्कृति अथवा संदेहवादी मानस और धार्मिक हृदय में अनुकूलता खोजने का निरर्थक प्रयास करते हैं।[1] उनके अनुसार ईसाई चिंतन में बुद्धि और धर्म के बीच जो हमें समन्वय स्थापित करने की प्रवृत्ति मिलती है वह हानिप्रद है क्योंकि ज्ञान एवं बुद्धि और आस्था एक-दूसरे के नितांत विरोधी हैं। वे ईसाई आस्था के स्वरूप, उसको समझने को विधि तथा दिव्य प्रकाशन पर प्रकाश डालते हैं। यह बुद्धि के लिए एक विचित्र स्थिति है कि इतिहास का एक ज्वलंत व्यक्तित्व अपने-आपको ईश्वर घोषित करने पर भी अपमानजनक मृत्यु को प्राप्त कर लेता है। बुद्धि ऐसे सत्य को स्वीकार करने में असमर्थ है, यह उसके लिए विरोधपूर्ण है।

आस्था का अपना अडिग मार्ग है, वह हमें जगत् त्याग का नैतिक आदेश देती है, आसक्तियों से विमुख होने के लिए बाध्य करती है तथा सब कुछ छोड़ देने का मन्त्र देती है। यह आस्थावान् व्यक्ति को अन्तर्द्वन्द्व से भी युक्त कर देती है। एक ओर उसकी इच्छाएँ हैं, दूसरी ओर त्याग है। यह दुःख बुद्धि और आस्था के द्वन्द्व को अधिक गहरा कर देता है। किर्कगार्ड का कहना है कि ईसाई धर्म ने बुद्धि के जीवन में अनुचित हस्तक्षेप किया है। सच्चा ईसाई धर्म वह है जो पाप में विश्वास करता है; निराशा, पश्चाताप, परिवर्तन में विश्वास करता है एवं मुक्ति के लिये ईसू और दिव्य अनुकम्पा की शरण लेता है। धर्म अथवा ईसाई धर्म कोई ऐसा विषय नहीं है जिसके बारे में बातें की जा सकती हों वरन् धर्म वह है जिसे जीना होता है। धर्म आंतरिक रूपान्तर है, आंतरिकता है, आत्म-निष्ठता है। अतः हमारे सम्मुख ईसाई बनने की समस्या है, ईसाई धर्म जीने की समस्या है न कि उस पर चिंतन करने की। ईसाई के लिए अस्तित्व का अर्थ है भगवान् की उप-स्थिति में जीना, अस्तित्व रखना। किन्तु यह अनुभव करना कि हम भगवान् के सम्मुख हैं, अपने-आपको पापी अनुभव करना है। अतः अस्तित्व का अर्थ पापी होना है। अस्तित्व यद्यपि उच्चतम मूल्य है तथापि यह पाप भी है। पाप की चेतना ही हमें धर्म के क्षेत्र में ले जाती है और धर्म का यह दर्शन हमें उचित धर्म के क्षेत्र पर पहुँचा देता है। यह बताता है कि शाश्वत ईश्वर विशिष्ट देश और काल में अवतरित होता है।

किर्कगार्ड अस्तित्व के अर्थ पर प्रकाश डालते हुए समझाते हैं कि मेरे अस्तित्व का अर्थ है मेरा उससे संपर्क जो मुझसे परे है।[2] मैं उस परे के लिए अत्यत उत्सुक हो

1. एक ओर इसने St. Thomas Aguinas, Ficino, Hegel आदि की विचारधारा को जन्म दिया तथा दूसरी ओर Pompanazzi, Luther, Pascal आदि की।

2. वे भगवान् को परम अन्य (Absolute other) मानते हैं।

जाता हूँ, उसके प्रति मेरा अत्यधिक लगाव हो जाता है। और इस कारण इस अन्य एवं भगवान् के साथ मेरे संबंध पर ही मेरा अनन्त दुःख या उल्लास निर्भर है। ईश्वर हमारा रक्षक है, वह हमें परम प्रेम से स्वीकार करता है यद्यपि उसकी प्रकृति हम मनुष्यों से पूर्णतः विजातीय है। वह मनुष्य और बुद्धि दोनों के परे है।

यूनानी दर्शन का प्रभाव

किर्कगार्ड के अस्तित्ववादी धर्म-दर्शन को समझने के लिए हमें सुकरात एवं उत्तर सुकरात युग—प्लेटो-अरस्तू का दर्शन—को समझना होगा। 'सद्‌गुण ही ज्ञान' है कह कर सुकरात ने ज्ञान के जिस व्यावहारिक पक्ष पर प्रकाश डाला वह प्लेटो और अरस्तू के दर्शन में उपेक्षित नहीं रह सका। प्लेटो ने स्टेट्‌समेन[1] में व्यावहारिक और विशुद्ध बौद्धिक विज्ञान के विरोध की चर्चा करते हुए समझाया कि सैद्धान्तिक ज्ञान का उद्‌देश्य सत्य को प्राप्त करना है और व्यावहारिक दृष्टि का उद्‌देश्य मानव कर्म को उसके स्वाभाविक परिणाम के प्रति निर्देशित करना है। इस विचारधारा को प्रगति देते हुए अरस्तू ने सैद्धान्तिक विज्ञान और व्यावहारिक अनुशासन के भेद को समझाया।[2] सत्य का सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करना बहुत मूल्यवान् है किन्तु यह जानना कि कैसे कर्म करें एक भिन्न बात है, जो स्वतः मूल्यवान् है। प्लेटो और अरस्तू दोनों ने ही व्यवहार एवं कर्म की महत्ता को समझा और कहा कि सैद्धान्तिक विचार परिवर्तनशील होते हैं, वे भूले जा सकते हैं किन्तु हमारे चिंतन और अभिरुचि के अभ्यास एवं हमारी सक्रिय प्रवृत्तियाँ सहज ही भूली या छोड़ी नहीं जा सकतीं हैं। वे हमारी आत्मगत सत्ता में गहरी पैंठी हुई हैं और हमारे चरित्र का निर्माण करती हैं। वह व्यक्ति जो अनियंत्रित जीवन जीता है, जिसके चिंतन और करनी में भेद है, वह अपना विनाश स्वयं आमंत्रित करता है। यदि व्यक्ति सचमुच में ही प्रामाणित जीवन जीना चाहता है तो उसे केवल यह नहीं सोचना चाहिए कि क्या सत्य है किन्तु इस विचार को उसकी सक्रिय सत्ता में गहरे प्रवेश करना चाहिए। प्लेटो इस अस्तित्ववादी एकता को 'शब्द और कर्म की संगति' कहता है।[3] प्लेटो और अरस्तू दोनों ने ही यह भी माना कि शुभत्व या साधुता उचित कर्म करने से चरितार्थ होती है। मानवीय साधुता कोई संपत्ति, क्षमता या किसी प्रकार का गुण नहीं है किन्तु यह इनसे कहीं गहरी विधि है—यह प्रामाणिक मनुष्य के रूप में एक सचमुच ही जीने, कर्म करने और रहने की प्रणाली है। प्राचीन यूनान की इस दृष्टि ने किर्कगार्ड के व्यावहारिक एवं अस्तित्ववादी

1. The Dialogues of Plato Vol. II trans. B. Jowett. (Random House, New York. Eighth Printing)
2. Nicomachean Ethics. Book VI.
3. Laches and Republic (Dialogues of Plato, Vol. I)

सिद्धात को प्रेरणा प्रदान की। वे अक्सर कहते थे—मेरा कार्य सुकरातीय कार्य है। सुकरात का 'अपने को जानो, का नीतिवाक्य किर्कगार्ड के दर्शन में आंतरिकता की कुन्जी बन गया। यह हमें बताता है कि ज्ञाता अस्तित्ववान् व्यक्ति है। विषयीनिष्ठता, आंतरिक अस्तित्व ही एकमात्र परम निश्चित सत्य है क्योंकि मात्र विषयीनिष्ठता में ही निश्चयात्मकता रहती है। इसलिए विषयनिष्ठता की खोज करना भ्रम में पड़ना है। किर्कगार्ड ने जब अपने समकालीन दार्शनिक (आधुनिक दार्शनिकों) को यूनानी चेतना एवं विषयीनिष्ठता की दृष्टि से देखा तो उन्हें घोर निराशा हुई। इस निराशा की मनःस्थिति में उन्होंने कहा, 'आज का दार्शनिक क्या जानता है?' आधुनिक दर्शन व्यक्ति को जीने का अधिकार नहीं देता है। व्यक्ति का जीवन अव्यवस्थित हो गया है, वह विनाश के द्वार पर खड़ा है, उसका मन उद्विग्न है किन्तु दार्शनिक का दर्शन इस तथ्य पर मनन करने के विपरीत इसके प्रति पूर्णतः तटस्थ है। दार्शनिक वह नहीं है जो इंद्रधुनष की बात करता है वरन् वह है जो धरती की कुरूपता और दरिद्रता में रहता है।

समानता का विरोध : आत्म-अलगाव

किर्कगार्ड व्यक्ति के अस्तित्व को महत्व देने के कारण उस समता के विरोधी हैं जिसे आज जनमत द्वारा सभी पर आरोपित किया जा रहा है; वे समाजवाद, समूह-वाद एवं समष्टिवाद के विरोधी है। उनका कहना है कि ये सिद्धान्त जनता या जन-समूह के नाम पर व्यक्ति के अस्तित्व को मिटा देने के आकांक्षी हैं। ये व्यक्ति पर समूह के थोथे मूल्यों को आरोपित करने की लालसा में व्यक्ति की वैयक्तिकता, उसकी विशिष्टता और गुणात्मक मूल्य का विनाश कर देते हैं। आज का मनुष्य अपने सत्तात्मक बोध, अस्तित्ववादी चिंतन को खो चुका है। वह स्वयं अपनी तथा दूसरों की दृष्टि में क्रियाओं और व्यापारों का संघात मात्र है। ऐसे व्यक्ति को यदि कभी अपनी सत्ता, अपने व्यापारों का ध्यान आ जाता है तो वह एक अस्पष्ट भावना के रूप में। अतः समूह के सम्मुख व्यक्ति नहीं रहता हैं, उसका बहिष्कार एवं अलगाव हो जाता है। यह मानस का आत्म-अलगाव है, व्यक्ति के मानस एवं आत्म का अलगाव है। ऐसा मनुष्य अपनी आत्मा खो बैठता है, वह मनुष्य नहीं रहता, व्यक्ति नहीं रहता वरन् विषय बन जाता है। ऐसे व्यक्ति को ईसाई भी नहीं कह सकते हैं, चाहे वह बाहरी रूप से ईसाई हो, चर्च का सदस्य हो। किर्कगार्ड मानते हैं कि समानता के आरोपण के क्रम को कोई भी युग, विशेषकर वर्तमान युग नहीं रोक सकता है। यह केवल उस व्यक्ति द्वारा रोका जा सकता है जो अपने एकाकीपन में धार्मिक व्यक्ति के उस साहस और निर्भीकता को प्राप्त कर लेता है जो भगवान् के सम्मुख उत्तरदायी है।[1]

1. The Present Age
Trans. Alexander Dru and Walter Lowrie (Oxford University Press, 1940)

आत्म-अलगाव एक आंतरिक प्रक्रिया है, यह उस आंतरिक सम्बन्ध को लक्षित करती है जो व्यक्ति का अपने ही प्रति है। हेगेल ने अपने द्वंद्वात्मक दर्शन के प्रतिपादन में जिस अलगाव के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, किर्कगार्ड उसे अस्तित्ववादी साँचे में ढाल देते हैं। हेगेल का तत्वदर्शन ईश्वर से अलगाव की बात नहीं करता वरन् प्रकृति, विश्व-मन और मन से अलगाव की बात करता है। अलगाव, आत्म-अलगाव, बहिर्भूत होना या विषयनिष्ठ होना है। उदाहरणार्थ मनुष्य का मन संस्कृति, सभ्यता, भाषा-विज्ञान, धर्म, दर्शन, साहित्य, कला आदि का सर्जन करता है। किन्तु फिर उसी का सर्जन उससे भिन्नता—भिन्न अस्तित्व—प्राप्त कर लेता है। इसी भाँति परम या चेतना के संदर्भ में प्रकृति को वह चेतना का आत्म-अलगाव[1] कहता है। आत्म-अलगाव स्थायी तत्व नहीं है क्योंकि फिर मन या परम अपने में ही वापिस आ जाता है। हेगेल प्रथम विचारक है जिसने अलगाव की समस्या पर गम्भीरतापूर्वक मनन किया तथा अपनी प्रणाली को इस पर आधारित किया।[2]

चिंता, विषाद, हताश आदि

किर्कगार्ड के दर्शन में यह आत्म-अलगाव एक आंतरिक-प्रक्रिया है, यह उस आंतरिक सम्बन्ध को लक्षित करती है जो व्यक्ति का अपने प्रति है। आत्म-अलगाव ही चिंता[3] है, यह चिंता ही विषाद[4] और हताशा में परिणत हो जाती है जो 'मृत्यु-पर्यन्त

---

1. Self-estranged spirit.

2. हेगेल ने अलगाव को समझाने के लिए दो शब्दों का प्रयोग किया, Entausserung अर्थात् वहिर्करण तथा Entfremdung अर्थात् अलगाव। कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में 'क्रिएटिविटी' का अलगाव (हेगेल) 'उत्पादकता के अलगाव' का रूप ग्रहण कर लेता है। मह मनुष्य है जो उत्पादन के क्रम में अलग हो जाता है न कि मन। और फिर अपने-आप में आने के लिए मनुष्य-मनुष्य बन जाता है न कि मन-लन बनता है। किन्तु अस्तित्ववादी दृष्टि से दोनों, हेगेल और मार्क्स, समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाए। यदि हेगेल के दर्शन में व्यक्ति, उसका व्यक्तित्व विश्वमन में लीन हो जाता है तो मार्क्स के सर्वहारा वर्ग के सर्वसत्तात्मक राज्य एवं तानाशाही में व्यक्ति की स्वतन्त्रता और सम्पूर्णता खतम हो जाती है: अथवा मार्क्स और हेगेल, दोनों ने ही अलगाव की समस्या को सुलझाने के विपरीत उसे बिगाड़ दिया है।

3. Angst (Angest)

4. Tungsind

रुग्णता' है। हताशा आत्मा का स्वयं से सम्बन्ध में असंतुलन है अथवा आत्मा बनने के क्रम में प्रत्येक बाधा हताशा है। यह मनुष्य एवं आध्यात्मिक अस्तित्व का विशिष्ट रोग है। यह रोग उसे तब ग्रसित करता है जब वह अपने आपको उससे अलग करता है जिसने उसकी सृष्टि की है। यह व्यक्ति का अपने अन्दर की आध्यात्मिकता, अपने अन्दर के शाश्वत को भूल जाना है। "वह व्यक्ति जिसमें ईश्वर नहीं है, उसमें आत्मा नहीं है और जिसमें आत्मा नहीं है, उसमें हताशा है।"

व्यक्ति के जीवन, विशेषकर भावनात्मक जीवन और चित्तवृत्तियों की विभिन्न प्रकार की हताशाओं का वे अन्वेषण करते हैं, उनकी व्याख्या और विश्लेषण करते हैं। व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को वे विडम्बना (irony), चिन्ता (anxiety-Angst), विषाद (melancholy), हताशा (despair) और जीवन-दृष्टि (life-view) के स्तरों पर समझाते हैं। पर इन शब्दों का प्रयोग वे सामान्य अर्थों में नहीं करते हैं। वे भाषावैज्ञानिक तत्वों की भी व्याख्या करते हैं, और फिर, एक नवीन अंतर्तथ्य से शब्दों को युक्त कर देते हैं। 'विडम्बना', उनके अनुसार, उस आवेगात्मक विद्रोह और दृश्यमान जगत् के त्याग की प्रवृत्ति को इंगित करती है जो व्यक्ति के अन्दर तब उत्पन्न होती है जब वह जगत् के भ्रामक स्वरूप को समझ लेता है। चिंता 'कुछ नहीं' (nothing) के चारों ओर मँडराती है क्योंकि यह व्यक्ति और उसकी संभावनाओं को घेरे रहती है। 'विषाद' व्यक्तित्व के धार्मिक स्वभाव को आच्छादित करता है तथा 'हताशा' धार्मिक व्यक्ति को लक्ष्य की ओर ले जाती है। इसका प्रयोग चार अर्थों में होता है: आत्मा का वरण एवं चयन, आशा का क्षीण होना, पापीपन तथा पापा चेतना में रहना।[1] इन चित्त-वृत्तियों के संदर्भ में वे जीवन-दृष्टि को समझाते हैं। ज्यों-ज्यों हम विडम्बना से आगे की ओर बढ़ते हैं, त्यों-त्यों हम आत्मा के बारे में प्रौढ़ ज्ञान या बोध की ओर अग्रसर हो जाते हैं। इस प्रौढ़ता की स्थिति में व्यक्ति चित्तवृत्तियों का दास नहीं रहता, वह उनका स्वामी बन जाता है। अपने ऐसे विश्लेषण के परिणामस्वरूप किर्कगार्ड बौद्धिक संदेहवादी डेकार्ट के विरुद्ध कहते हैं कि परम को जानने के लिए हताशा से प्रारम्भ करना होगा, न कि संदेह से। स्वयं हताशा से प्रारम्भ करके वे समझाते हैं कि व्यक्ति कैसे स्वयं बन सकता है, कैसे 'पुनरावृत्ति'[2] एवं 'ईश्वर के सम्मुख फिर से स्वयं बनता है।'[3]

---

1. McCarthy, Vincent A: The Phenomenology of Moods in Kierkegaard, p. 5.
(Martinus Nijhoff/The Hague/Boston, 1978)

2. Repetition (पुनरावृत्ति) किर्कगार्ड के लिए धार्मिक सत्य की सूचक है।

3. देखिए किर्कगार्ड लिखित तीन पुस्तकें: The Concept of Dread, The Sickness Unto Death तथा Repetition, Trans. Walter Lawrie (Princeton, 1944, 1941 and 1940) 'द सिकनेस अनटू डेथ' में हताशा का अस्तित्ववादी सिद्धान्त मिलता है। किर्कगार्ड हताशा के स्वरूप, संरचना एवं विभिन्न प्रकारों का भी विश्लेषण करते हैं।

ज्ञान का पुनर्मूल्यांकन : आंतरिकता

किर्कगार्ड व्यक्ति को सच्चाई का संदेश देते हैं। व्यक्ति को अपनी सच्चाई में जीना चाहिए। उसे व्यर्थ में, जो वह नहीं है, उसका अभिनय एवं दिखावा नहीं करना चाहिए। वर्तमान युग की औद्योगिक सभ्यता ने व्यक्ति को दास बना दिया है, वह शक्तिशाली एवं उच्च पदस्थ के हाथ का निर्जीव खिलौना बन गया है। किर्कगार्ड ऐसे व्यक्ति को सच्चाई के जीवन के प्रति उद्‌बुद्ध करते हैं। वही व्यक्ति ऐसा जीवन जी पाता है जो आंतरिकता को पहचानता है। "सत्य शुभ और सौंदर्य से उच्चतर नहीं है किन्तु सत्य, शुभ और सुन्दर अनिवार्यतः प्रत्येक मानव अस्तित्व से सम्बधित हैं और अस्तित्ववान् व्यक्तित्व के अस्तित्व, न कि विचार में, ये मिले हुए हैं।" अथवा, अनिवार्य सत्य आत्मनिष्ठ है एवं 'सत्य आंतरिकता है।' "एकमात्र वास्तविकता जिसका अस्तित्व अस्तित्ववान् के लिए है, वह उसकी अपनी नैतिक वास्तविकता है।" किर्कगार्ड के ये कथन ज्ञान के पुनर्मूल्यांकन की स्थापना करते हैं। वे किसी भी ऐसे विज्ञान और दर्शनशास्त्र को स्वीकार करने में असमर्थ हैं जो मनुष्य को मनुष्य रहना नहीं सिखाता है। वे तथ्यात्मक सत्यों और बौद्धिक सत्यों के भेद की भी उपेक्षा करते हैं क्योंकि उनके अनुसार ये सच्चे अस्तित्व, भगवान् के सम्मुख अस्तित्व के बारे में नहीं बताते हैं। इसी आधार पर वे बुद्धि-विरोधी हैं। ऐसे लोग जो कहते हैं कि उनकी जीवन-दृष्टि मात्र बुद्धि निर्देशित है, न केवल प्रत्यक्ष ज्ञान का विरोध करते हैं, वरन् कष्टकर भी हैं। वे इस तथ्य का विस्मरण कर देते हैं कि मनुष्य मात्र विचारक ही नहीं है, वह अस्तित्ववान् व्यक्ति है। किर्कगार्ड का कहना है कि तर्कशास्त्र और तत्वदर्शन अस्तित्ववादी निर्णयों को निर्धारित नहीं कर सकते हैं। तर्कशास्त्र का सम्बन्ध सार्वभौम एवं अमूर्त सामान्यों (सारतत्व) से है जबकि वास्तविक अस्तित्व व्यक्तिगत और विषयीनिष्ठ है। तर्कशास्त्र 'सम्भव' के क्षेत्र में विचरण करता है, उसे हम जीवन की मूर्त परिवर्तनशील स्थितियों पर आरोपित नहीं कर सकते। वास्तविक अस्तित्व के निर्णय तार्किक नहीं होते हैं, वे अस्तित्ववादी एवं विषयीनिष्ठ होते हैं। इसी भाँति तत्वदर्शन के लिए वे कहते हैं कि यह अमूर्त प्रत्ययों का तार्किक विधि से निर्मित विधान है। यह उस वास्तविकता को नहीं समझ सकता जो परिवर्तनशील और विशिष्ट है तथा जिसका सम्बन्ध जीवन और उसके महत्वपूर्ण निर्णयों से है। कांट ने इस तथ्य को स्वीकार किया था कि बुद्धि परमार्थ तत्व को समझने में असमर्थ है किन्तु बाद में हीगल यह कह कर भूल करता है कि विश्व प्रत्ययों का विधान है। किर्कगार्ड द्वारा तत्वदर्शन की यह आलोचना तार्किक भाववादियों की भाँति तत्वदर्शन को अर्थहीन नहीं मानती है, वरन् दर्शन के प्रति उनके व्यावहारिक झुकाव को अभिव्यक्ति देती है। वे स्वयं कहते हैं, "मैं सम्पूर्ण मानव जीवन जीने के लिए शक्ति चाहता हूँ, मैं मात्र ज्ञान का जीवन नहीं जीना चाहता हूँ।" उनका व्यावहारिक एवं

अस्तित्ववादी दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ ज्ञान को मानने वाले सभी सिद्धान्तों के लिए यह मानता है कि ये हमें केवल 'संभाव्य' ज्ञान दे पाते हैं। पर धर्म और नीतिशास्त्र के गहन सत्यों का सम्बन्ध अस्तित्व की आंतरिक, विषयीनिष्ठ, तात्कालिक चेतना से है।

मनुष्य के अस्तित्व को महत्व देते हुए वे आत्मगत और आवश्यक सत्य तथा वस्तुगत और अनावश्यक सत्य की बात करते हैं। आत्मगत आवश्यक सत्य वस्तुगत अनावश्यक सत्य से इस अर्थ में भी भिन्न है कि वह मूर्त, आंतरिक और विषयीनिष्ठ है। इसके विपरीत वस्तुगत अनावश्यक सत्य अमूर्त, बाह्य और विषयनिष्ठ है। अतः आंतरिकता को प्राप्त करना सम्भावनाओं (वस्तुगत सत्य) के क्षेत्र से वास्तविकता के क्षेत्र में वापस लौटना है। आत्मगत ज्ञान अस्तित्व से सम्बन्धित है। किन्तु फिर प्रश्न उठता है, अस्तित्व से क्या अभिप्राय है? अस्तित्व के अर्थ को समझने के लिए परम्परागत दृष्टिकोण को भूलना होगा क्योंकि यह अस्तित्ववादी विचार के द्वंद्वात्मक स्वरूप को समझना है, अस्तित्व "मानव अस्तित्व का सूचक है, किन्तु मनुष्य के सांत अस्तित्व का सूचक नहीं है, वरन् सांत और असीम, कालिक और शाश्वत के समन्वय का।" अथवा "यह मनुष्य के मनोभाव और संकल्प से अंतःसम्बद्ध आध्यात्मिक अस्तित्व का सूचक है" एवं अस्तित्ववान् व्यक्ति सांत और असीम दोनों ही है।

अस्तित्व और चिंतन

किर्कगार्ड मानते हैं कि अस्तित्व असंदिग्ध है और वह चिंतन के पूर्व है। अतः वे डेकार्ट के कथन, "मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ" को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। डेकार्ट ने आत्मा के अस्तित्व को चिंतन के आधार पर सिद्ध किया है। किर्कगार्ड का कहना है कि डेकार्ट ने आत्मा के अस्तित्व पर संदेह किया क्योंकि आत्मा को उसने एक विषय की भाँति माना। वह भूल जाता है "मैं सोचता हूँ" में आत्मा का अस्तित्व पहले से ही निहित है। वह अपनी युक्ति द्वारा 'सोचना' और 'अस्तित्व' दोनों को ही अपने चिंतन का विषय बना देता है मानो वे दो बाह्य विषय हों, जैसे मेज और कुर्सी। फिर "इसलिए" के माध्यम से वह दोनों को युक्त कर देता है : "मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ।" पर किर्कगार्ड ऐसे तर्क को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कहना है, "क्योंकि मेरा अस्तित्व है और क्योंकि मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं सोचता हूँ कि मैं हूँ" अथवा चिंतन करने के लिए मेरा अस्तित्व होना चाहिए। डेकार्ट "मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ" की युक्ति के आधार पर सभी आत्माओं के अस्तित्व को सिद्ध कर देता है। किर्कगार्ड की विषयीनिष्ठ दृष्टि ऐसी स्थापना को स्वीकार नहीं कर पाई। उनका कहना है कि प्रत्येक आत्मा अपने ही आंतरिक अस्तित्व के बारे में विषयीनिष्ठ भाव से सचेत हो सकती है।

न वह दूसरों के सम्मुख अपने अस्तित्व को प्रमाणित कर सकती है और न अन्य आत्माओं को जान ही सकती है क्योंकि आत्मा का ज्ञान विषयीनिष्ठता से प्राप्त होता है।

यह सोचना नितांत भ्रमपूर्ण होगा कि अस्तित्ववादी चिंतन का अर्थ उस चिंतन से है जिसका विषय-तत्व अस्तित्व है, वरन् यह चिंतन उस विषयी की ओर इंगित करता है जिसमें विषयी अपने चिंतन में लीन है। अस्तित्ववादी विषयीनिष्ठता को समझाने के लिए ही किर्कगार्ड अपनी मुख्य पुस्तक को "कन्क्लूडिंग अन्साइन्टिफिक पोस्टस्क्रिप्ट" कहते हैं अथवा "अन्साइन्टिफिक" एवं अवैज्ञानिक कहकर विषयनिष्ठ दृष्टिकोण का विरोध करते हैं। अस्तित्ववादी विषयी जीने में व्यस्त है और इसका अर्थ यह है कि वह सम्भूति के क्रम में है। उसके संप्रेषण के रूप और अस्तित्व के रूप में अनिवार्य अनुकूलता होनी चाहिये तथा उसके विचार और अस्तित्व की संरचना में भी अनुरूपता अवश्य होनी चाहिये। ज्ञान की यह आंतरिकता बतलाती है कि ज्ञान का पुनर्परीक्षण नहीं हो सकता। किर्कगार्ड ने समझाया कि ज्ञान के क्षेत्र में "क्या" का महत्व नहीं है, "कैसे" का है[1] और यह "कैसे" आंतरिक है, "अपने उच्चतम में यह आंतरिक 'कैसे' अनन्त का उत्कट प्रेम है, और अनन्त का उत्कट प्रेम सत्य है।" किन्तु प्रश्न यह है कि कैसे उत्कट प्रेम, आत्मनिष्ठता अथवा 'कैसे' सत्य के सूचक हो सकते हैं, उसके निर्माता हो सकते हैं? फिर वे यह भी मानते हैं कि ईश्वर अन्य है, मनुष्य से भिन्न एवं उससे परे है। ऐसी स्थिति में ईश्वर आंतरिकता कैसे हो सकता है, उसे कैसे आंतरिकता में ही प्राप्त किया जा सकता है?

अस्तित्व और वरण—आत्म-चरितार्थता

वास्तव में अस्तित्व के अर्थ को समझना किर्कगार्ड के वरण के सिद्धान्त को समझना है एवं उनके धर्म—प्रतिक्रियावादी व्यक्तिपरक प्रोटेस्टेंट धर्म—को समझना है। ईसाई धर्म के अनुरूप वे कहते हैं कि रुचि का वरण करते समय व्यक्ति के रूप में मनुष्य मूलगत रुचियों, नैतिक रुचियों का सामना करता है और वरण के क्रम में वह अपने उत्तरदायित्व को समझता है। प्रत्येक प्रतिबद्धता में वह अपनी स्वतंत्रता और अपने बारे में सचेत हो जाता है। इसलिए प्रत्येक निर्णय जो व्यक्ति लेता है, वह उसके लिए अप्रतिसंहार्य है, अटल है और वह आगामी निर्णयों की अनिवार्यता को प्रस्तुत करता है। अपनी पुस्तक 'आइदर-ऑर'[2] में वे वरण के स्वरूप पर प्रकाश डालने एवं सच्ची ईसाइयत को स्वीकार करने के लिए दो प्रकार की जीवन-प्रणालियों को समझाते हैं : सौंदर्यपरक[3] या बौद्धिक जीवन प्रणाली और नैतिक या धार्मिक जीवन प्रणाली। सौंदर्यपरक जीवन प्रणाली भावना और आमोद-प्रमोद के जीवन को व्यक्त करती है। इस प्रणाली के किर्कगार्ड आलोचक हैं। उनका कहना है कि हमें न केवल इसे समाप्त कर देना चाहिए, वरन् सिंहासन-च्युत भी कर देना चाहिए। ऐसा कहकर वे यह समझाते हैं कि भावना को न तो मानव जीवन की प्रेरणात्मक शक्ति का स्थान देना चाहिए और न इसे देवालयों में ही स्थान मिलना चाहिए। भावना की ऐसी आलोचना के माध्यम से न तो वे विशुद्धतावाद का समर्थन करते हैं और न किसी उस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं जिसके अनुसार सुख अपने आप में अनुचित है। वे मानते हैं कि भगवान् की भक्ति एवं उपासना में सुख मिलता है, किन्तु सुख को इतना सामान्य नहीं माना जा सकता है कि इसे प्रत्येक व्यक्ति ईसाइयत के साथ सम्बद्ध कर दे, ईसाई बनना इतना सरल या सुगम नहीं है जितना कि सौंदर्यपरक या भावनात्मक प्रणाली को अपनाने वाले मानते हैं, और इस भाँति वे लोगों को ईसाइयत के प्रति आकर्षित करते हैं। वे सच्चे ईसाई का ध्यान परिकल्पनात्मक प्रणाली की सीमाओं की ओर भी आकर्षित करते हैं। बहुत सारे लोग ईसाई धर्मग्रन्थ—बाइबिल—को इसलिए स्वीकार नहीं करते कि यह उनकी भावना को आकर्षित करता है, किन्तु इसलिए कि वह बुद्धि, विवेक या तर्कसम्मत है। मानव बुद्धि को ईसाइयत का मापदण्ड मानना शाश्वत ईश्वर के आत्म-उद्घाटन को बुद्धि की सीमा में बाँध देना है और यह अनुचित एवं पाप है। यह कहना विरोधपूर्ण भी है कि कालातीत विशिष्ट समय या काल में व्यक्त होता है। सौंदर्यपरक जीवन प्रणाली को अपनाने वाला संभावनाओं के साथ खिलवाड़ करता है। उसकी इच्छायें और भावनाएँ उसके विभिन्न सम्बन्धों—पारिवारिक, बौद्धिक, साहित्यिक, धार्मिक आदि—के स्वरूप को निर्धारित करती हैं। परिकल्पनात्मक या बौद्धिक जीवन को अपनाने वाला कालदृष्टि का अतिक्रमण कर कालातीत को अपनाता है। सौंदर्यमूलक और परिकल्पनात्मक प्रणाली में अतः एक स्पष्ट विरोध मिलता है।

किर्कगार्ड अस्तित्व के माध्यम से इस विरोध को दूर करते हैं। दोनों प्रणालियों में से किसी एक को श्रेष्ठ कहना और दूसरे को निम्न कहना गलत है। हमें दोनों को ही समान स्थान देना होगा, उनका एकत्व करना होगा और यह अस्तित्व में सम्भव है। अस्तित्व नैतिकता और धर्म को व्यक्त करता है। अस्तित्व का जीवन प्रामाणिक जीवन है। जब जीवन के प्रति सौंदर्यमूलक दृष्टि में निहित भ्रमपूर्ण ज्ञान का आभास होने लगता है, तब हम धीरे-धीरे प्रामाणिक जीवन-दृष्टि की ओर अग्रसर होते हैं। सौंदर्यमूलक दृष्टि में निहित मिथ्यात्व को समझना विडम्बना की चित्तवृत्ति को प्राप्त करना है। यह अधार्मिक अस्तित्व से धार्मिक अस्तित्व की ओर विकसित होना है। किर्कगार्ड इस विकास को मनोवैज्ञानिक विधि—विडम्बना, चिंता, विषाद, हताशा, जीवन-

1. What and how.

2. Either-or, 2 Vols : Vol I Trans. by D. F. Swenson, L. M. Swenson and Vol. II Trans. by W. Lowrie (Princeton University Press, 1944)

3. किर्कगार्ड ईस्थटिक (aesthetic) शब्द का प्रयोग इसकी शब्द-व्युत्पत्ति के अर्थ में करते हैं जिसका अर्थ है भावना।

दृष्टि आदि के विश्लेषण द्वारा—से समझाते हैं। यह वरण के स्वरूप को भी समझना है। वरण दो प्रकार की जीवन प्रणालियों के मध्य किसी एक प्रकार की प्रणाली को चुनना है। वरण की पर्याप्त मनोवैज्ञानिक व्याख्या देना कठिन है, क्योंकि बिना अनुभव के यह समझा नहीं जा सकता। वरण के स्वरूप पर विशेषणों द्वारा प्रकाश डाला जा सकता है अथवा वैयक्तिक, आत्मनिष्ठ, क्षणिक, निरपेक्ष, स्वतंत्र, अपरिवर्तनीय आदि विशेषण इसकी रूपरेखा मात्र प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में व्यक्ति द्वारा किसी एक प्रकार के जीवन को चुनना उसका वरण करना "अतल गर्त को लाँघना है।"

व्यक्ति का फिर से स्वयं बनना ही अपनी चरितार्थता को प्राप्त करना है। इसके लिए सम्पूर्ण गंभीरता और आवेग के साथ अपने जीवन और उसके उद्देश्य को समझना होगा तथा उस उद्देश्य को जीना होगा। किर्कगार्ड का कहना है कि सोचना एक बात है और जो सोचा गया है, उसमें जीना दूसरी बात है। इस अन्तर को समझाने के लिए वे मृत्यु का उदाहरण देते हैं। मृत्यु को परिकल्पनात्मक विषयनिष्ठ चिंतन तथा विषयीनिष्ठ अस्तित्ववादी चिंतन दोनों के ही आधार पर समझा सकते हैं। पहले प्रकार के चिंतन में मानव-अस्तित्व की नश्वरता पर दार्शनिक ढंग से चिंतन-मनन किया जा सकता है, उस पर भाषण दिया जा सकता है। ऐसे प्रकार के दार्शनिक विवेचन या भाषण में दार्शनिक एवं भाषणकर्त्ता अपने आपको मृत्यु से असम्बद्ध रखता है क्योंकि वह मनुष्य की मृत्यु पर सामान्य या विषयनिष्ठ दृष्टि से चिंतन करता है। पर जब अस्तित्ववादी भाव से अपनी मृत्यु पर मैं चिंतन करता हूँ तो मेरी मृत्यु और मेरे संदर्भ में मेरी मृत्यु के परिणाम मुझे अभिभूत कर देते हैं। विषयीनिष्ठ चिंतन वह क्रिया (डीड) है जो मेरे अस्तित्व को परिवर्तित कर देती है। यह "सत्य" में जीना है, न कि सत्य को समझना।" जब मैं अन्तर्मुखी ध्यान में लीन हो जाता हूँ तब मैं सांत और असीम दोनों ही रूपों के प्रति सचेत हो जाता हूँ। अपने अस्तित्व का यह आंतरिक विरोधाभास मुझे अत्यन्त दुखी कर देता है। एक ओर मैं हूँ, मैं जो सीमित और अपूर्ण हूँ तथा जो काल में जीता है। दूसरी ओर मेरे अस्तित्व को आंतरिकता है। अपनी आंतरिकता में मैं उसके लिये आकुल रहता हूँ जो असीम, पूर्ण, अमर, शाश्वत और परम आनन्द है। मैं क्या हूँ और मुझे क्या होना चाहिये के मध्य जो विसंगति है, वह मुझे गहन विषाद और असह्य दुःख से विह्वल कर देती है। यह विसंगति अथवा विषाद व्यक्ति को वस्तुगत चिंतन, साहित्य और कला की ओर झुका देता है। सांत्वना प्राप्त करने के लिए वह अनैतिक दिशाओं की ओर भी अग्रसर होता है। ऐसी स्थिति में दृढ़ नैतिक निर्णय लेने की आवश्यकता होती है। जब हम अस्तित्व के उद्देश्य को "परम के प्रति गहन आसक्ति" द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करते हैं तो हमें अलंघ्य कठिनाइयों का अनुभव होता है। किन्तु हमारे अस्तित्व का ध्येय शाश्वत परम आनन्द को प्राप्त करना है।

अस्तित्ववाले को अपनी समस्तकालिक तथा सापेक्ष इच्छाओं और लक्ष्य का त्याग करना होता है। उसे शाश्वत ध्येय को प्राप्त करने के लिए अपने संकल्प को दृढ़ करना होता है। अस्तित्ववाले के सम्मुख चयन की समस्या है, या तो वह सापेक्ष लौकिक शुभ को चुने और/या परम शुभ को क्योंकि दोनों, सापेक्ष और परम, के लिए नैतिक जीवन में स्थान नहीं है। त्याग और वर्जन के लिए कर्त्तव्य की दुराग्रही और दृढ़ पुकार अस्तित्ववाले में भय और कंपन उत्पन्न कर देती है। परम उच्चतम आह्वान के अनुरूप न रह सकने की अयोग्यता की चेतना व्यक्ति—अस्तित्ववाले—में हताशा उत्पन्न करती है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति नैतिक संघर्ष तथा असहायता की भावना के वशीभूत होकर आंतरिक अस्तित्ववादी छलाँग द्वारा आस्था पर पहुँचता है। उसे विश्वास हो जाता है कि असीम स्वयं उसकी सहायता करेगा और वह अपने अस्तित्व में निहित असीम के प्रति उत्कट प्यार को संतुष्ट कर पाएगा। इस स्थिति में नैतिक संकल्प असीम की अनुकंपा के विश्वास के संकल्प में रूपांतरित हो जाता है। नैतिक संघर्ष अस्तित्ववादी विधि से आस्था एवं धर्म में विकसित हो जाता है। हताशा से उत्पन्न यह आस्था जीवन को अनिवार्यता है। धार्मिक व्यक्ति जगत् में रहता है। यद्यपि बाह्य रूप से वह सामान्य सांसारिक व्यक्ति की भाँति आचरण करता है तथापि वह सामान्य व्यक्ति का जीवन नहीं जीता है। भगवान् के सम्मुख यह स्वीकार करके कि अपने आप में वह कुछ नहीं कर सकता, वह अपनी बाहरी क्रियाओं का आंतरिकता में रूपांतर कर देता है। स्पष्ट ही ऐसा व्यक्ति ईश्वरमय जीवन जीता है, उसकी आंतरिकता की उस गहन नीरवता में जहाँ सब कुछ शांत है, दिव्य निवास करता है।

मूल्यांकन

किर्कगार्ड का दर्शन अपने उत्पत्तिकाल में अजाना ही रहा। किन्तु उसमें निहित सत्य कालक्रम में अज्ञात और अप्रतिष्ठित नहीं रह सका। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व ही उसका प्रभाव जर्मन दर्शन में लक्षित होने लगा तथा प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य तो उसने जर्मनी की सीमा का अतिक्रमण कर अन्य देशों को प्रभावित कर दिया। किर्कगार्ड के दर्शन का जो तत्व आज का युगबोध बन गया है, वह है व्यक्ति एवं मानव अस्तित्व, मानव स्वतंत्रता और आंतरिकता एवं विषयीनिष्ठ चिंतन। उन्होंने विषयनिष्ठता को सत्य का मापदण्ड नहीं माना। उनके अनुसार सत्य अथवा वास्तविकता का मापदण्ड विषयीनिष्ठता है। सच्चे ज्ञान को अस्तित्व एवं अस्तित्व की आंतरिकता से युक्त कर नैतिक और धार्मिक ज्ञान को ही वे अनिवार्य ज्ञान मानते हैं क्योंकि ये ज्ञान ही "आंतरिक जगत् से सम्बद्ध हैं, इसलिए केवल इन्हीं में सत्य और अस्तित्व में अनुरूपता या मेल रहता है।" इस कारण आंतरिकता ही सत्य है, आंतरिकता को पहचानना सत्य को जानना है। सच्चे ज्ञान, आंतरिकता एवं सत्य के लिए वे व्यक्ति को सच्चे अस्तित्व

का जीवन जीने का संदेश देते हैं। यह 'आइदर/ऑर्' में प्रतिपादित वरण के उस सिद्धान्त को समझना है जो उनके बाद के सम्पूर्ण अस्तित्ववादी दर्शन का मुख्य तत्व है। अथवा, यह उनके धार्मिक अस्तित्ववाद को समझना है क्योंकि सच्चा अस्तित्व ईश्वर के सम्मुख अस्तित्व है। व्यक्ति अपने वरण के आंतरिक अनुभव में ईश्वर का ज्ञान, चाहे कुछ क्षण को ही, प्राप्त कर सकता है। ईश्वर की शाश्वत वास्तविकता तथा व्यक्ति के नश्वर अस्तित्व में अनुरूपता सोचना बुद्धि के लिए चाहे विरोधपूर्ण प्रतीत हो किन्तु यह आस्था का सत्य है। व्यक्ति जब ईश्वर के साथ सम्पर्क स्थापित कर लेता है तब उसके व्यक्तित्व का विनाश नहीं होता है क्योंकि ईश्वर 'परम अन्य' रहता है। किर्कगार्ड के अनुसार व्यक्ति के जीवन का एकमात्र सत्य भगवान् का सामीप्य[1] अथवा परम अन्य को प्राप्त करना एवं अन्य व्यक्तियों और जगत् से वियुक्त हो जाना है। व्यक्ति का परम को प्राप्त करना अपने आप में मूल्यवान् और वांछनीय है। जगत् और अन्य व्यक्तियों के साथ पारस्परिक सम्बन्धों की उपेक्षा करना भी उचित नहीं है क्योंकि ये वे सम्बन्ध हैं जो कि जीवन के लिये महत्वपूर्ण हैं। पर किर्कगार्ड के दर्शन में इन महत्वपूर्ण सम्बन्धों की अवहेलना मिलती है।

किर्कगार्ड ने आधुनिक जीवन से त्रस्त मनुष्य की समस्या और कठिनाई को समझा। व्यक्ति की आज निःसंदेह शोचनीय स्थिति है और किर्कगार्ड का सिद्धान्त व्यक्ति के संदर्भ में मानव अस्तित्व को महत्व देकर स्तुत्य कार्य करता है। वे एक नई चेतना—व्यक्तिनिष्ठ चेतना—के उद्घोषक हैं। पर व्यक्ति के नाम पर केवल आंतरिकता, व्यक्तिनिष्ठ चिंतन को ही महत्व देकर, विषयनिष्ठ चिंतन की उपेक्षा करना भ्रान्तिपूर्ण है। किर्कगार्ड भूल जाते हैं कि ज्ञान के क्षेत्र में दोनों का ही महत्व है, दोनों अन्योन्याश्रित हैं। इसलिए मात्र एकांगी व्यक्तिनिष्ठता तर्कहीन, विवेकहीन और बुद्धि-विरोधी हो जाती है। वास्तव में किर्कगार्ड के दर्शन की विशेषता उनके समय की परिस्थिति है और उनके दर्शन की दुर्बलता उनकी अपने पिता से दायधन में प्राप्त उदास मनोवृत्ति है, चिरसंगिनी पीड़ा है तथा उनके जीवन के वे आघात हैं जिन्होंने उनके जीवन को तिक्त बना दिया। और इन सबसे संयुक्त है उनकी ईमानदारी से जीने की आकांक्षा। इस कारण उनका स्वर विद्रोही और व्यंग्यात्मक है। वे अमानवीय दर्शन, अमानवीय धर्म, अमानवीय चिंतन, अमानवीय सामाजिक विधान एवं अमानवीय जीवन पद्धति के प्रति घृणा से सिहर उठे। उनकी घृणा, पीड़ा, उदासी, एकाकीपन तथा व्यंग्य ने उनके दर्शन को मानवीय बनाते-बनाते विकृत कर दिया। उनका दर्शन उनके व्यक्तिवादी, अतिसंवेदनशील विषादग्रस्त व्यक्तित्व के उस पक्ष को अधिक मुखर कर देता है जो गहन हताशाओं का सूचक है। स्पष्ट ही किर्कगार्ड ने मानव-जीवन के

1. Rapport.

विकृत पक्ष को अत्यन्त महत्व दे दिया। इसमें भी संदेह नहीं कि वे अपना तथा अपने समय का अच्छा विश्लेषण एवं मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। पर यहाँ यह भी मानना होगा कि स्वयं मनोविकृति-सम्पन्न होने के कारण उन्होंने मनोविकृति-सम्बन्धी सम्भावनाओं की ही अधिक व्याख्या की है। फिर भी उन्होंने दर्शन और ईश्वरज्ञान एवं धार्मिक मनोविज्ञान को नए विचारों से युक्त किया है। इस कारण उन्हें यह श्रेय देना होगा कि उनके दर्शन की विकृतियाँ—उदास चित्तवृत्ति के विभिन्न प्रकार, हताशाएँ—अपने आप में गंतव्य नहीं हैं। वे अनिर्वचनीय आनन्द, पूर्ण आस्था, आचरण की विशुद्धता और शुभत्व की ओर ले जाती हैं एवं ईश्वर को ही सब कुछ मानने वाले किर्कगार्ड मूलतः उस अस्तित्ववाद के जनक हैं जो सच्चे धर्म—सच्ची ईसाइयत—को जीवंत कर देता है। उनके इस जीवंत दर्शन से युक्त हो गई है उनकी भाषा, भाषा की प्रांजलता एवं प्रवाह। यह प्रवाह उनके दर्शन को आकर्षक बना देता है।

उन्होंने व्यक्ति को अत्यधिक महत्व अवश्य दिया है, किन्तु उनका व्यक्तिवाद धार्मिक हैं; वह सुकरातीय जीवन-दृष्टि से युक्त भी है। सभी अस्तित्ववादियों ने किर्कगार्ड के व्यक्तिवाद, अलगाव के सिद्धान्त तथा ज्ञान के सिद्धान्त को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। किर्कगार्ड को यह श्रेय नहीं दिया जा सकता कि उन्होंने अस्तित्ववादी दर्शन की व्यवस्थित व्याख्या की एवं उन्होंने किसी सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन किया। पर यह मानना होगा कि अस्तित्व एवं इग्जिस्टेंज[1] को उन्होंने जिस विशिष्ट अर्थ से युक्त किया, उसे अस्तित्ववादियों, विशेषकर जर्मनी और फ्रांस के समकालीन अस्तित्ववादियों, ने स्वीकार किया। उन्होंने समकालीन विचारकों की बहिर्दृष्टि को अन्तर्मुखी बनाया तथा समझाया कि अस्तित्व का अर्थ सामान्य अस्तित्व से नहीं है, उस अस्तित्व से है जिसके आधार पर हम कहते हैं कि चिड़िया या कुत्ते का अस्तित्व है। किर्कगार्ड अस्तित्व को एक नए आयाम से युक्त करते हैं—अस्तित्व का अर्थ है मेरा उससे सम्पर्क जो मुझसे परे है। यह आयाम बताता है कि व्यक्ति अपने वरण द्वारा परम शुभ को प्राप्त कर सकता है। अतः सामान्य व्यक्ति, यदि वह चाहे तो, आत्म-अन्वेषण द्वारा उस श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त कर सकता है जहाँ वह अपनी विसंगतियों का अतिक्रमण कर अपने को अपने आप से समन्वित कर लेता है।

———

1. Existenz.

कार्ल यास्पर्स

जीवन एवं व्यक्तित्व

यास्पर्स[1] का बचपन लाड़-प्यार में बीता। उनके पिता बैंक के मैनेजर थे। युवावस्था में यास्पर्स ने पहले कानून का अध्ययन किया और फिर चिकित्साविज्ञान का। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व उन्होंने मनश्चिकित्सक क्लिनिक में वैज्ञानिक सहायक का कार्य किया। सन् 1921 में वे हाइडेलबर्ग में दर्शन के प्राध्यापक नियुक्त हुए, किन्तु फिर 1935 में राजनैतिक कारणोंवश राष्ट्रीय समाजवादी सरकार एवं नाज़ी शासन ने उन्हें विश्वविद्यालय से निकाल दिया।[2] 1945 में दर्शन के प्राध्यापक के पद पर उनकी पुर्ननियुक्ति हुई। 1948 में वे वासेल में प्राध्यापक हो गए। उनका व्यक्तित्व किर्कगार्ड या नीत्शे की भाँति एकाकी एवं एकाकीपन से कुंठित या विद्रोही नहीं है। वे उनसे प्रभावित अवश्य हैं, अपने दर्शन में उनके ज्ञान से लाभान्वित भी होते हैं किन्तु अपने ही विशिष्ट ढंग से। उनका दर्शन उनकी परिस्थितियों के प्रति पूर्ण प्रबुद्धता तथा उनके मनश्चिकित्सक के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालता है। प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिकाओं ने उन्हें बुरी तरह झकझोर दिया, मर्मांतक पीड़ा पहुँचाई तथा योरोप की त्रस्त स्थिति को देखकर वे कराह उठे, "सम्भव है अब युद्ध पूर्व योरोप का जीवन कभी नहीं लौटेगा।" परिणामतः उन्होंने अपने दर्शन द्वारा व्यक्ति को अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करने का संदेश दिया। यास्पर्स ने अपने लेखक और विचारक का जीवन मनश्चिकित्सक के रूप में प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व प्रारम्भ किया था। इस रूप में उन्होंने यह अनुभव किया कि किसी भी मानसिक विकृतिसंपन्न रोगी का उपचार एक ऐसे रोग के अंतर्गत नहीं किया जा सकता जो कि एक सामान्य नियम द्वारा, वैज्ञानिक और वस्तुगत विधि से, समझाया जा सके। रोग को समझने और उसका उपचार करने के लिए मन-

1. Karl Jaspers (1883-1963) जर्मन दार्शनिक
महत्वपूर्ण कृतियाँ—Philosophy, 3 Vols.; Way to Wisdom; Reason and Existenz; Man in the Modern World; An Introduction to Philosophy; The Perennial Scope of Philosophy.
2. प्रमुखतः इस कारण कि उनकी पत्नी यहूदी थीं।

श्चिकित्सक को रोगी के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करना होगा। अपनी पुस्तक 'साइकॉलोजी ऑफ वर्ल्ड-व्यूज' में उन्होंने अपने दृष्टिकोण के माध्यम से यह समझाया कि जितने भी सम्भावित विश्व-सिद्धान्त हैं, वे सब आकस्मिक घटनाओं—पाप, मृत्यु-सी अपरिहार्यताओं के सम्मुख व्यक्ति की मूलगत मानवीय प्रतिक्रियाएँ या निर्णय हैं। मनोवैज्ञानिक लेखन ने उन्हें यथातथ्य और सुस्पष्ट वर्णन की वह दृष्टि भी प्रदान की जिसने उनके दर्शन, दार्शनिक चिंतन और उसके प्रस्तुतिकरण को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान कर दिया।

दर्शन का लक्ष्य : अस्तित्व को प्रकाशित करना

यास्पर्स दर्शन को समझने की आवश्कता पर महत्व देते हैं। दर्शन को उनके अनुसार, न तो विज्ञान तक सीमित कर सकते हैं और न धर्मशास्त्र तक, क्योंकि दर्शन का लक्ष्य अस्तित्व (Existenz=Existenzerhellung) को प्रकाशित एवं उद्घाटित करना है। हमें दर्शन को समझने के लिए यह प्रश्न करना होगा : क्या दर्शन उन मापदण्डों को देने में समर्थ है जिनको व्यक्ति का अनुभव खोज रहा है, जो उसके अस्तित्व की माँग है ? यास्पर्स का कहना है कि अस्तित्व की हम धारणात्मक व्याख्या नहीं कर सकते हैं, यद्यपि वस्तुगत दृष्टि से ऐसी व्याख्या करना तर्कसंगत लगता है। वह यह भी नहीं मानते हैं कि अस्तित्ववादी वास्तविकता के अंतर्तथ्य का एकीकृत परिदृश्य सम्भव है। सच्चा दार्शनिक वह है जो अस्तित्व की मूर्त परिस्थितियों में अभिव्यक्ति को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। किर्कगार्ड और नीत्शे के दर्शन की प्रशंसा करते हुए वे समझाते हैं कि इन दोनों के मूर्त दार्शनिक चिंतन में ऐसी दार्शनिक प्रवृत्ति के गहन दृष्टान्त मिलते हैं। इन दार्शनिकों ने अस्तित्ववादी वास्तविकता को समझने के उत्साह में किसी भी ऐसी योजना या ध्येय को स्वीकार नहीं किया जो चिंतन को एक ऐसे जटिल सिद्धान्त में परिवर्तित करने का प्रयास करता है जिसका आधार स्वयंसिद्ध सिद्धान्त है। वे यह भी मानते हैं कि यह कहना दार्शनिक छलना मात्र है कि हम पूर्ण अस्तित्ववादी सिद्धान्त की स्थापना कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि अस्तित्व का कोई परम या निश्चित अंतर्तथ्य नहीं है, यह निरन्तर संभूति की आकस्मिकताओं के अधीन है, सदैव प्रक्रिया के क्रम में है। अस्तित्ववादी दृष्टि से हीगल के तर्कशास्त्र में असंगति मिलती है। यह श्रेय हमें विशेष रूप से किर्कगार्ड को देना होगा कि उसने हीगल के बुद्धिवाद और सारतत्ववाद में जो आस्तित्व की हास्यापद उपेक्षा मिलती है, उसकी ओर दार्शनिकों का ध्यान आकर्षित किया। किर्कगार्ड और नीत्शे ने कहा कि हमें दर्शन की पुनर्व्याख्या करनी चाहिए ! यह स्थापित करना चाहिए कि दर्शन अस्तित्व को उद्घाटित करता है। दर्शन के ऐसे स्वरूप को समझाकर इन दार्शनिकों ने जीवन की समस्याओं को एक नवीन, व्यापक बौद्धिक दृष्टि प्रदान की तथा स्पष्ट किया

कि हम मात्र बुद्धि के आधार पर किसी निश्चित सिद्धान्त का प्रतिपादन या निगमन नहीं कर सकते हैं। अतः ये दोनों ही उस वैज्ञानिक व्यक्ति के प्रति शंकाल हैं जो समस्त ज्ञान को परिमाणात्मक तथ्यों का रूप देना चाहता है। सम्पूर्ण भावावेश के साथ इन्होंने आत्म-ज्ञान की उपलब्धियों के क्षेत्र का निरीक्षण किया और समझाया कि आत्म-चिन्तन ही सत्य की ओर ले जा सकता है। जब हम अपनी आत्मा की गहनता—अंतरतम सत्ता—में प्रवेश करते हैं, तब वास्तविकता अपने को उद्घाटित कर देती है। दोनों ने ही वस्तुगत विधि के सम्भाषणों के मिथ्या परिणामों की ओर ध्यान आकर्षित किया। अतः इन्होंने किसी भी प्रकार के अनुकरण की चेष्टा, किसी सिद्धान्त विशेष का अनुयायी होने के प्रयास एवं दर्शन को विशिष्ट परिभाषा में बाँधने की प्रवृत्ति का खण्डन किया।

किर्कगार्ड और नीत्शे के कथन यास्पर्स के अस्तित्ववाद को संवर्धित करते हैं। उनका कहना है कि हम दर्शन में मनुष्य की स्थिति को नहीं भूल सकते हैं। परम्परागत दर्शन अथवा विश्वविद्यालयी दर्शन जो अध्यापकों की कुर्सी से दिए जाते हैं, मानवीय मूल्यों से रहित हैं, क्योंकि ये व्यक्ति के अस्तित्व की आन्तरिकता से उत्पन्न नहीं होते हैं। इस आधार पर वे कहते हैं कि यदि ह्यूम ने दार्शनिकों को ज्ञान के प्रति सचेत किया है तो किर्कगार्ड और नीत्शे में दार्शनिकों को अस्तित्ववादी दृष्टि प्रदान की है—मनुष्य होने का क्या अर्थ है? ईसाई होना क्या है? यदि परम वास्तविकता धारणात्मक विचार का विषय नहीं है तो उसका अनुभव कैसे बोधगम्य और प्रेषणीय हो सकता है? व्याख्याओं एवं सूत्रीकरण में कैसे सार्वभौम प्रामाणिकता और बोधगम्यता प्राप्त हो सकती है तथा वे कैसे व्यक्तिगत अनुभव की वास्तविकता के अत्यंत निकट हो सकते हैं? यास्पर्स के दार्शनिक चिन्तन का केन्द्र सर्वसमावेशी—Umgreifende (the Comprehensive, Encompassing) है। सर्वसमावेशी निर्धारित सत्ता की सभी सीमाओं के परे है। इसलिए यह ज्ञान के निर्धारित विषय के रूप में कभी भी व्यक्त नहीं हो सकता। इस दृष्टि से यह कांट के परमार्थ तत्व की भाँति है—प्रतिभासिक जगत् में प्रच्छन्न रूप से वर्तमान होते हुए एवं परम वास्तविकता होने पर भी यह वस्तुगत रूप से अज्ञेय है। यह न तो निर्धारित विषयनिष्ठता है, न कोई एक विशिष्ट वस्तु है और न यह वस्तुओं की समग्रता के रूप में व्यक्त होता है। यह मनुष्य की धारणात्मक कोटियों के क्षितिज की सीमा लक्षित करता है। किन्तु फिर भी यह जो स्वयं विचारों से परे है, हमारे विचारों में सदैव आता है। इस सर्वसमावेशी के साथ मनुष्य का मिलन सम्भव है। पर यह मिलन धारणात्मक परियोजनाओं के माध्यम से नहीं हो सकता, इसके लिए दार्शनिक आस्था तथा अस्तित्ववादी निर्णय की आवश्यकता है। अथवा, हमें दार्शनिक चिन्तन मानव-अस्तित्व एवं मानव चेतना से प्रारम्भ करना होगा।

सत्ता की खोज : अतिक्रमण के तीन प्रकार

दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र

यास्पर्स के दर्शन का मूलकेन्द्र, केन्द्रीय सत्य सर्वसमावेशी है। यह अपने रूपात्मक विभेदीकरण द्वारा हमारे लिए व्यक्त और अव्यक्त होता है। इस दृष्टि से दर्शन के तीन व्यापार हैं: विश्व-निर्धारण का दार्शनिक कार्य, अस्तित्व को प्रकाशित करना तथा तत्वदर्शन में लीन होना। इसे हम सत्ता एवं सर्वसमावेशी के तीन रूपों एवं प्रकारों द्वारा समझा सकते हैं : सत्ता-वहाँ (being-there) सत्ता-स्वयं में (being-oneself) तथा सत्ता-अपने-रूप में (being-in-itself)। यास्पर्स जिस भाँति सत्ता के स्वरूप और प्रकारों को समझाते हैं, वह उन्हें प्लेटो, एटिस्टोटल, स्पिनोजा और शैलिंग का ऋणी बना देता है। वे इस ऋण को स्वीकार करते हैं। किन्तु उनका अस्तित्ववादी तत्वदर्शन उनकी प्रणाली को विशिष्टता प्रदान करता है और यह विशिष्टता मात्र उनकी अपनी है। इस दृष्टि से यास्पर्स की पुस्तक "फिलोसफी"[1] उनके अस्तित्ववादी दर्शन को स्थापित करती है। उनका कहना है कि यदि हम दर्शन के इतिहास एवं प्रणालीविज्ञान पर विचार करें तो देखेंगे कि इतिहास-क्रम में तीन प्रणालियों ने जन्म लिया है। इन तीनों की अपनी विशिष्टताएँ हैं, तीनों ने अपनी-अपनी विधि से दार्शनिक जिज्ञासा को संतुष्ट करने का प्रयास किया है। इनमें विरोध देखना भ्रांतिपूर्ण होगा क्योंकि ये एक-दूसरे की ओर ले जाती हैं।

पहली प्रणाली विश्व-स्थिति निर्धारण की दार्शनिक प्रणाली है। यह प्रणाली मनुष्य और जगत् को समझने के लिए वैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग करती है। इसे विश्व-स्थिति-निर्धारण प्रणाली इसलिए कहा गया है कि यह सदैव अनन्त क्रम में है। इसका ज्ञान अस्तित्ववान विषयों का ज्ञान है अथवा वस्तुगत ज्ञान है। सामान्य चेतना यह मानती है कि सत्ता वह है जो वस्तुगत रूप से ज्ञेय है। जगत् में वस्तुओं के ज्ञान के रूप में विश्व-स्थिति-निर्धारण प्रणाली अस्तित्व-विश्लेषण से भिन्न है। अस्तित्व-विश्लेषण सत्ता की खोज में दार्शनिक चिन्तन एवं तत्वनिरूपण है जबकि विश्व-स्थिति-निर्धारण वैज्ञानिकों का कार्य है।

विश्व-स्थिति-निर्धारण की दार्शनिक प्रणाली मनुष्य और जगत् को दार्शनिक दृष्टि से समझने के लिए वैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग करती है। कुछ लोग मानते हैं कि जगत् एवं 'सत्ता-वहाँ' का वस्तुगत ज्ञान प्राप्त करना ही मानव चिन्तन का लक्ष्य है। यास्पर्स वैज्ञानिक ज्ञान की सीमा के प्रति प्रबुद्ध करते हैं। उनका कहना है कि विज्ञान सब वस्तुओं का मापदण्ड नहीं हो सकता। यदि दार्शनिक वैज्ञानिक ज्ञान की सीमाओं के प्रति पूर्ण सचेत है तो उसे भौतिक और मनोवैज्ञानिक विज्ञानों से मनुष्य की जगत् में स्थिति का थोड़ा-बहुत ज्ञान अवश्य प्राप्त हो सकता है। यास्पर्स बाह्य जगत् एवं स्थायी विषयों के जगत् के अस्तित्व को मानते हैं और कहते हैं कि इस जगत् में विचारक का

1. Philosophy (Philosophie) 3 Vols.; Trans. E. B. Ashton (The University of Chicago Press; Vol. I, 1969; Vol. II, 1970 and Vol III. 1971.)

अपना स्थान है।[1] विज्ञान के इस जगत् में जो कुछ भी ज्ञेय है, जो कुछ भी जाना जाता है, वह एक विषय है और वह विषय वस्तुगत है क्योंकि जो जाना है, उसे सभी स्वीकार कर लेते हैं, वह सार्वभौम रूप से बुद्धिगम्य है।[2] इसलिए ''समस्त ज्ञान और

1. डेकार्ट ने जगत् के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए तर्क प्रस्तुत किए। उन्होंने 'मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ' (Cogito Ergo Sum) के आधार पर जगत् के अस्तित्व को सिद्ध किया। यास्पर्स की अस्तित्ववादी दृष्टि जगत् को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं दखती क्योंकि व्यक्ति जगत् में है और व्यक्ति को मानना जगत् का मानना है।

2. ऐतिहासिक दृष्टि से यास्पर्स को मानव जीवन की चार प्रमुख स्थितियाँ दीखती हैं। प्रथम स्थिति वह आदिम स्थिति है जिसमें मनुष्य ने जीवन के लिए भाषा का प्रयोग, अग्नि की खोज तथा औजारों का आविष्कार किया। द्वितीय स्थिति में प्राचीन सभ्यता का विकास इजिप्ट, मेसोपोटामिया, चाइना तथा इंडस में मिलता है। तृतीय स्थिति 800 ई० पू० से 200 ई० पू० की है जब अधिकांश भूमण्डल पर मनुष्य रहने लगा था तथा वह इतिहास के प्रति सचेत हो गया था। जगत् में मानव अस्तित्व की भयानकता का उसे बोध हो गया था। उसने अनेक धर्मों को स्थापित किया और दार्शनिक चिन्तन की नींव डाली। इसके पश्चात् मानव इतिहास दो हज़ार वर्षों तक एक निश्चित प्रकार के जीवन और विचार में बन्दी हो गया। फिर हमें वह चतुर्थ स्थिति मिलती है जिसे हम आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास का युग कहते हैं। इस युग ने अपनी सृजनशक्ति खो दी है और एक 'टेक्नोलॉजिकल' प्रारूप में ढलता जा रहा है। परिणामस्वरूप हमें कुछ तथ्यों का सामना करना पड़ रहा है: (1) विज्ञान की विजय तथा प्रोद्योगिकी प्रारूप, (2) धरती की एकता एवं राष्ट्रों और व्यक्तियों की परस्पर निर्भरता, (3) जन संख्या की व्यापक वृद्धि, (4) अबौद्धिक प्रचार से प्रभावित होने वाले जड़ एवं मूक मानव समाज का जन्म, (5) प्राचीन आदर्शों का विघटन अथवा परम्परागत मूल्यों पर संदेह, (6) उन दो महान् राष्ट्र शक्तियों का जन्म जो परस्पर संघर्षरत हैं तथा प्रत्येक उन शस्त्रों से युक्त हैं जो समस्त मानव सभ्यता का विनाश कर सकते हैं, (7) विश्वव्यापी संकट की भावना तथा आसन्न विध्वंस का भय, (8) मनुष्य के मानस का वस्तुगत परिमाणात्मक वर्गों से शासित होना तथा मनुष्य को एक जटिल वस्तु मानना और ऐसे जड़वादी दृष्टिकोण को सामाजिक सिद्धान्तों पर आरोपित करना। यान्त्रिक युद्ध द्वारा जनसमूह की मृत्यु को मौन निश्चल स्वीकृति दे देना, तथा (9) धर्म को इतवार के विश्राम आदि तक सीमित कर देना।

मनुष्य की ऐसी वर्तमान स्थिति पर यास्पर्स ने विशद चिन्तन किया है। उन्होंने जानना चाहा है—क्या कोई ऐसा उपाय नहीं है जिसको अपनाकर व्यक्तिगत सत्ता इस भयंकर चुनौती का सामना कर सके? यास्पर्स का विचार है कि दर्शन ही व्यक्ति को उसकी इस स्थिति से उबार सकता है, उसमें मानव स्वतन्त्रता के बोध को जागृत कर सकता है। किन्तु इस बोध को सामूहिक स्तर पर आरोपित नहीं किया जा सकता। इसके लिए व्यक्तिगत चिन्तन आवश्यक है। मूलभूत प्रश्नों द्वारा यह हमें विज्ञान की सीमाओं, प्रौद्योगिकी मूल्यों की अपर्याप्तताओं तथा मनुष्य-मनुष्य में निहित सच्ची सम्भावनाओं का बोध करा सकता है। यह मनुष्य को उसकी प्रमाणिक सत्ता के प्रति प्रबुद्ध कर सकता है। देखिए—Way to Wisdom, Trans. Ralph Manhein (Yale Paperbound, September, 1960); The Perennial Scope of Philosophy, Trans. Ralph Manhein (London, Routledge and Kegan Paul, 1950)

जगत् का प्रत्येक विषय सामान्य चेतना के लिए है।'' अथवा विज्ञान द्वारा प्राप्त वस्तुगत ज्ञान समग्र और पूर्ण नहीं है। तर्कशास्त्र और गणित से आकारिक विज्ञानों तथा मनुष्य और प्रकृति के आनुभविक विज्ञानों में भी हम सत्य के समग्र सिद्धान्त को नहीं पा सकते हैं। विज्ञान पर आधारित दर्शन—भाववाद और आदर्शवाद—ने जिस पूर्णता को प्राप्त किया है, वह कृत्रिम और नकली है।[1] सच्चे आलोचनात्मक दर्शन को विज्ञान की अपूर्णता को मानना होगा और यह कांट की महान् दृष्टि थी कि उसने विज्ञान की इस अक्षमता को समझा। जगत् अपने व्यापक रूप में मानव चेतना के लिए बोधगम्य नहीं है। आगमनात्मक ज्ञान सदैव ही सम्भाव्य रहेगा और अपने कुछ क्षेत्रों में अनिश्चित भी रहेगा। अतः वैज्ञानिक धारणाएँ जगत् का सम्यक् चित्र प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। मानविकी विज्ञान, इतिहास आदि भी, सम्यकता की दृष्टि से, निरर्थक हैं। यास्पर्स, इसलिए, यह मानते हैं, कि विज्ञान वस्तुगत ज्ञान की स्पष्टता और सार्वभौमिकता को तो प्राप्त कर लेता है पर उस एकता तथा समग्रता को प्राप्त नहीं कर सकता जिसे बुद्धि चाहती है। इसका कारण यह है कि विज्ञान अनुभवाश्रित एवं प्रयोगाश्रित है। किन्तु इससे विज्ञान उपेक्षणीय नहीं हो जाता, वरन् यह मानना होगा कि वह दर्शन का प्रथम चरण है तथा उसकी सीमा का बोध हमें दर्शन की ओर ले जाता है। अतः किर्कगार्ड की भाँति विज्ञान की उपेक्षा करके एकदम परात्पर पर पहुँचना या नीत्शे की भाँति दर्शन का गला घोंटकर, उसके स्थान पर, जैव धारणाओं को स्थापित करना अत्यन्त भ्रामक है।

शास्त्रीय तत्वदर्शन ने प्रकृति, जगत् या ईश्वर के रूप में 'सत्ता-अपने-रूप में' को समझा है तथा उसी से अपनी व्याख्या प्रारम्भ की है। यास्पर्स 'सत्ता-स्वयं में' की व्याख्या से प्रारम्भ करते हैं। यह कोई नयी बात नहीं है। कांट का आलोचनात्मक दर्शन इसके लिए मार्ग प्रशस्त कर चुका है। यास्पर्स इसे अपने दार्शनिक प्रस्तुतिकरण का उचित प्रारम्भिक बिन्दु मानते हैं और इसी के आधार पर वे जगत् की सत्यता को सिद्ध करने के प्रयास को निरर्थक मानते हैं। व्यक्ति जगत् में है, अतः जगत् की सत्यता को सिद्ध करने का प्रश्न ही नहीं उठता है। वही व्यक्ति दर्शन में प्रवेश कर सकता है जो

1. उनका कहना है कि भाववाद ने दर्शन को विज्ञान में और आदर्शवाद एवं प्रत्ययवाद ने विज्ञान को दर्शन में परिणत कर दिया है। डेकार्ट, स्पिनोजा, हुर्जल आदि ने दर्शन को वैज्ञानिक सुस्पष्टता और विषयनिष्ठता से युक्त करने के प्रयास में दर्शन की सच्ची और गहन कार्य-क्षमता की उपेक्षा की है। दर्शन को विज्ञान की सीमाओं पर प्रकाश डालकर भाववाद, दृश्यमानवाद, नास्तिवाद की अर्थशून्यता को समझाना होगा।

जगत् के अन्वेषण के प्रति पूर्ण आवेग के साथ समर्पित हो जाता है। इसलिए जो जगत् की उपेक्षा करता है, वह दर्शन की भी उपेक्षा करता है। दार्शनिक विज्ञान की उपेक्षा नहीं करता है। वैज्ञानिक ज्ञान को उसी के रूप में स्वीकार करते हुए दर्शन दार्शनिक के अस्तित्व से प्रारम्भ होता है। दार्शनिक जानना चाहता है कि वह क्या है, न कि वह क्या जानता है।

यह दर्शन की द्वितीय प्रणाली 'अस्तित्व को प्रकाशित करना' का स्तर है। यही, वास्तव में, अस्तित्ववादी चिन्तन की प्रणाली है और जो इस पर आधारित है—'मैं अपने अस्तित्व के बारे में सचेत हूँ।' अतः दर्शन दार्शनिक के अस्तित्व 'वह क्या है' को महत्व देता है, न कि 'वह क्या जानता है' को महत्व देता है। यास्पर्स अस्तित्व के प्रकाशन की बात करते हैं किन्तु यह प्रकाशन वस्तुगत स्थिति से सम्बद्ध नहीं है।

सांसारिक अस्तित्व का अर्थ है मेरा विषय के रूप में होना जिसके कारण मैं अनेक वैज्ञानिक सिद्धांतों—जीवशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र आदि—का विषय बन जाता हूँ। सत्ता के इस प्रकार के रूप में मनुष्य अपने आपको अन्य विषयों के साथ एक विषय मान लेता है जो कि विभिन्न परिस्थितियों के अधीन है। इस रूप में मनुष्य को उचित ढंग से जाना नहीं गया है क्योंकि उसकी अस्तित्ववादी स्वतन्त्रता की विशिष्ट व्याख्या नहीं हुई है। वह मात्र वह इकाई है जिसका जैविक और सामाजिक विज्ञानों ने अनुभवात्मक अनुसंधानों के लिए विशिष्टीकरण किया है। मनुष्य एक 'इग्जिस्टेंज' के रूप में यह जानता है कि वह अपने-आप में स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रता कोई आकस्मिक वस्तु नहीं है, यह वह अनिवार्यता है जो आत्म-सत्ता में असीम भाव से स्थित है।

यास्पर्स का कहना है कि आत्मा को विषय की भाँति नहीं जाना जा सकता है। अपने अस्तित्व के बारे में जानते हुए भी व्यक्ति अपने आपको चेतना का विषय नहीं बना सकता है। "अस्तित्ववान् होने के कारण मैं सभी वस्तुओं के अस्तित्व से भिन्न हूँ क्योंकि मैं कह सकता हूँ 'मैं हूँ'।" अतः मनोविज्ञान जिस 'मैं' का अध्ययन करता है, वह मान-विक तथ्यों का योग (संघात) है। ये मेरी चेतना के अन्तर्वस्तु तो हैं किन्तु जब मैं कहता हूँ 'मैं हूँ', तब मेरा यह कथन इस अन्तर्वस्तु के सम्मुख एक विषयी के रूप में रहता है। यास्पर्स का अस्तित्ववाद 'मैं' की सभी अभिरुचियों में उसकी स्वतन्त्रता को महत्व देते हुए मानता है कि इस मूलगत स्वतन्त्रता के परिणाम-स्वरूप व्यक्ति परम दायित्व से युक्त हो जाता है। किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व पूर्णतः असम्बद्ध नहीं हो सकता है। चेतना और अन्य चेतनाओं के बीच हमें पारस्परिक सहमति मिलती है अथवा व्यक्तियों के मध्य हमें अन्योन्यक्रिया मिलती है। आदान-प्रदान एवं पारस्परिक प्रभाव मिलता है। यह प्रभाव अथवा क्रिया केवल समसामयिक समाज में ही नहीं दीखती, वरन् इतिहास की

संरचना में भी दीखती है। पारस्परिक अन्योन्यक्रिया आवश्यक भी है, इसके द्वारा व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करते हैं। यास्पर्स स्वतन्त्र व्यक्तियों के सम्पर्क, उनके सम्प्रेषण (कम्युनिकेशन) एवं सम्बन्ध को आवश्यक मानते हैं। मनुष्य की स्वतन्त्रता उसे इस बोध से भी युक्त करती है कि उसका अस्तित्व जगत् में है और वह परिस्थितियों से बद्ध है। इन परिस्थितियों को चाहने पर भी वह बदल नहीं सकता है। पर इन्हें उसे समझना और जानना होगा क्योंकि इनके मध्य उसे रहना है और रहने के लिए उसे रहने का ढंग या विधि सीखनी होगी। अस्तित्व में व्यक्ति 'सत्ता परिस्थितियों में' से बाहर नहीं आ पाता है। जब मैं अपने कर्मों से परिस्थितियों को परिवर्तित कर लेता हूँ, तब भी मेरे कर्मों के परिणाम मेरे सम्मुख एक परिस्थिति के रूप में आ जाते हैं। यह परिस्थिति 'परिबन्ध परिस्थिति' हो जाती है। जब यह मेरे अस्तित्व को उग्रतापूर्वक झकझोर देती है, तब मैं 'इग्ज़िज्टेन्ज़' के प्रति उन्मुख हो जाता हूँ। ऐसी स्थिति में मेरे कर्म सोद्देश्य हो जाते हैं। यह कर्म निरपेक्ष कर्म है। इसलिए लौकिक उद्देश्य इनकी पूर्ण व्याख्या नहीं कर सकते। पर मैं अपने आप में निश्चित हूँ कि मेरे लिए ये सदैव सत्य हैं।

चेतना और 'इग्ज़िज्टेज़' की सीमान्त रेखा पर निरपेक्ष चेतना—मेरी सत्ता की चेतना की निश्चयात्मकता—छलाँग लेती है। मैं इस निश्चयात्मकता के लिए कोई कारण नहीं दे सकता, ठीक वैसे ही जैसे मैं अपने निरपेक्ष कर्मों के लिए नहीं दे सकता हूँ। यह वह निष्ठा है जो मुझे आपूरित रखती है और मुझे निर्भय बनाती है। यह वह एकमात्र प्यार है जो मेरी सत्ता का संपोषण करता है और तब तक करता रहेगा जब तक मैं जीवित हूँ।

अपने आप में आने के लिए 'इग्ज़िज्टेन्ज़' आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता के तनाव और एकता में प्रवेश करता है। उस चिन्तन में जो 'इग्ज़िज्टेन्ज़' को प्रकाशित करता है, हम इस बात को मन में लाते हैं ताकि हम समस्त वास्तविकता की अस्तित्ववादी प्रासंगिकता को आत्मनिष्ठता वस्तुनिष्ठता में समझ सकें।

तत्त्वदर्शन की प्रणाली एवं तृतीय प्रणाली अथवा तत्त्वदर्शन दार्शनिक का उस 'एक सत्' की खोज है जो सर्व-परिवृत्त, सर्व-व्यापक परम है तथा जो प्रत्येक प्रकार का स्रोत है एवं दार्शनिक के ईश्वर के समान है। यह परम ही मीमांसात्मक दर्शन का लक्ष्य है। तत्त्वदार्शनिक चिन्तन, अस्तित्ववादी वास्तविकता के क्षणों में हम परात्पर की वास्त-विक उपस्थिति का स्मरण करते हैं तथा उसके अर्थ को सम्भव बनाते हैं। दार्शनिक विचार का बुद्धि द्वारा परीक्षण सम्भव नहीं है। हम विचारों द्वारा परिष्कार करते हैं, भ्रांतियों को दूर करते हैं और उसका पूर्वानुमान करते हैं जो कि एक दिन, सचमुच में ही, 'इग्ज़िज्टेन्ज़' में प्रवेश कर लेगा। दार्शनिक विचार परात्पर सत्ता का बोध नहीं है।

यह एक सम्भाव्य 'इग्ज़िज्टेन्ज़' का अपने 'इग्ज़िज्टेन्ज़' के दार्शनिक प्रकाशन की खोज है। यह तीन रूप लेता है—एक/तार्किक परात्परता को विशुद्ध कोटियों में यह अपने लिए स्वयं स्थान बनाता है। दो/उस स्थान को यह अस्तित्ववादी सम्बन्धों की परात्पर के प्रति गतियों से भर देता है। तीन/शून्यों को पढ़ने के लिए यह विषयनिष्ठता की भाषा का पता लगाता है जो एकसाथ ही वर्तमान और अदृश्य होती है। तत्त्वदर्शन हमें शून्यों को सचेततापूर्वक पढ़ने देता है। यह हमें परात्पर के प्रकाशन के रूपों में पुराण, काव्य और कला को समझाता है।

तीनों प्रकारों की अनुकूलता

यास्पर्स के तत्त्वदर्शन को समझने के लिए किर्कगार्ड के बौद्धिक तथा अबौद्धिक के द्वैत को भूलना होगा। यास्पर्स मानते हैं कि दार्शनिक निष्ठा ज्ञान से युक्त हैं क्योंकि दर्शन का मूल स्वर अनन्त ज्ञान का स्वर है। इसलिए आस्था के दोनों पक्षों—आत्मगत और वस्तुगत—को समझना होगा, इनमें से एक का भी निराकरण करना अपूर्णता को अपनाना है। अतः दार्शनिक चिन्तन विषय-विषयी के भेद के दोनों ही पक्षों को अपनाता है, वह व्यापक (द कॉमप्रिहेन्सिव) है। दर्शन का यह स्वरूप स्पष्ट ही परम्परा या रूढ़िवादिता को नहीं अपनाता है। पर फिर भी यास्पर्स का अस्तित्ववाद किर्कगार्ड और नीत्शे की भाँति शाश्वत दर्शन की उपेक्षा नहीं करता है। वे मानते हैं कि सभी दार्शनिक इसकी परिक्रमा करते हैं। शाश्वत दर्शन के प्रति वे अपने ऋण को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि दार्शनिक आस्था अपने पूर्व तथा सामयिक सिद्धान्तों एवं सभी सिद्धान्तों को एक तैयारी या प्रेरणा के रूप में स्वीकार करती है। इसलिए दार्शनिक परम्परागत दर्शन का समादर करता है, किन्तु उसके प्रति प्रणत नहीं होता है। वह जानता है कि इतिहास अनवरत आध्यात्मिक संघर्ष है। किसी भी सिद्धान्त का धारणात्मक स्वरूप तब तक सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वह विचार रूप में ग्रहण करने के साथ ही विचारक के ऐतिहासिक अस्तित्व में चरितार्थ नहीं हो जाता है। दार्शनिक को अपने विचारों का सामना करना पड़ता है। उसे सिद्धान्त से सन्तोष नहीं होता है। दार्शनिक चिन्तन, इस अर्थ में, अतिक्रमण की गति है, यह वह गति है जिसे प्रत्येक अपने लिए बनाता है अथवा जिसे प्रत्येक को अपने लिए बनाना होता है। दार्शनिक चिन्तन विज्ञान का निराकरण नहीं करता है, वह उसे वस्तुगत ज्ञान का मापदण्ड एवं दर्शन का प्रथम सोपान मानता है। अतः दर्शन को विज्ञान तक सीमित नहीं किया जा सकता, विज्ञान जीवन-दर्शन की व्याख्या करने में अक्षम है: दर्शन धार्मिक रूढ़िवादिता एवं निर्दिष्टवादिता भी नहीं है। किन्तु दर्शन की सीमाओं को भी समझना होगा। वह समग्र एवं सार्वभौम ज्ञान प्रदान नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि प्राचीन सिद्धान्तों ने सत्ता के क्षेत्र को सार्वभौम ज्ञान का विषय माना, उसे हमारे विचार के

स्वरूप के अनुरूप स्वीकार किया। किन्तु अब हम सत्ता के क्षेत्र में असंगतियाँ अनुभव करते हैं। अतः आधुनिक दार्शनिक चिन्तन की प्रारम्भिक स्थिति, उसकी शक्ति और उसकी उपयोगिता इस पर निर्भर है कि वह तीन प्रकार की सत्ताओं—'सत्ता-वहाँ', 'सत्तास्वयं में', 'सत्ता-अपने रूप में'—की असंगतियों को समझे।[1] यद्यपि सत्ता के इन रूपों का अनुसंधान विभिन्न प्रणालियों द्वारा किया जाता है, किन्तु दार्शनिक अपना जीवन जीता हुआ इन तीनों में भाग लेता है। वह आत्मा के अस्तित्व अथवा अपने अस्तित्व से प्रारम्भ करता है। वह बाह्य जगत् के क्रियाकलापों से अपने उस आन्तरिक जगत् की ओर उन्मुख होता है जिसे कि उसकी अपने बारे में चेतना प्रकट करती है, यह वह आन्तरिकता है जो विज्ञान और वस्तुनिष्ठ ज्ञान की पहुँच के परे है। दर्शन जिस एकता और समग्रता को समझता है, उसे विज्ञान कभी उपलब्ध नहीं कर सकता है। यह एकता विश्व की परात्पर स्थिति (सत्ता-अपने रूप में) से संबंधित है जिसका कि विचारक स्वयं अनुभवात्मक जगत् (सत्ता-वहाँ) से अपनी परात्पर स्थिति (सत्ता-स्वयं में) पर पहुँचकर बोध प्राप्त करता है।

अतः यास्पर्स के अनुसार सत्ता के तीनों प्रकार एक-दूसरे के अनुकूल हैं, वे परस्पर-विरोधी नहीं हैं। प्रकारों का स्वरूप स्पष्ट कर देता है कि विश्व-स्थिति-निर्धारण का अतिक्रमण अनन्त सम्भावनाओं के मध्य हमारे सत्ता के बोध का संपोषण करता है। "इग्ज़िज्टेन्ज़" के प्रकाशन का अतिक्रमण आत्म-सत्ता की स्वतन्त्रता को भाता है तथा तात्विक अतिक्रमण इग्ज़िज्टेन्ज़ के लिए सत्ता का आह्वान करता है। तीनों ही प्रकार के अतिक्रमण में जो कुछ भी अवरोध उत्पन्न होता है, वह मात्र प्रश्नों के द्वारा दूर नहीं किया जाता, बल्कि प्रश्नों की आड़ में अस्तित्ववादी आवेग एवं प्रेरणा के द्वारा दूर किया जाता है। विश्व-स्थिति-निर्धारण की प्रेरणा कहती है—'हमें जगत् को जानना चाहिए और देखना चाहिए कि सत्ता क्या है।' अस्तित्व को प्रकाशित करने वाली प्रेरणा कहती है—'मैं अपने आप में आती हूँ, दूसरे के साथ तथा जगत् के द्वारा मैं कर्म करती हूँ, मेरा भी मूल्य है।' तात्विक प्रेरणा कहती है—'मैं ईश्वर को खोज सकती हूँ।'

सर्वसमावेशी : उसके दो प्रकार

स्पष्ट रूप से यह समझने के लिए कि सत्य और वास्तविक क्या है, हमें सम्भाव्य के व्यापक क्षेत्र का परीक्षण करना होगा। तब हम यह अनुभव करते हैं कि जिस किसी को भी हम विषय के रूप में जानते हैं, वह चाहे कितना ही महान् हो, वह सम्पूर्ण नहीं

1. Karl Jaspers : Philosophy, Vol I.

2. Reason and Existenz—Trans. William Earle (Routledge and Kegan Paul. London, 1956)

है। अथवा, हमारी प्रत्येक क्रिया या विचार एक निश्चित परिधि या क्षितिज के अन्दर ही सम्भव है। अतः जिस स्थल पर हम पहुँचते हैं, वह क्षितिज जो इस स्थल का समावेश करता है, वह और बड़ा हो जाता है। हम, इसलिए, उस स्थल पर रुक नहीं पाते हैं; हमें और आगे बढ़ना होता है। स्पष्ट ही हम किसी ऐसे स्थल, क्षितिज या दृष्टिकोण को पाने में असमर्थ हैं जहाँ से सम्पूर्ण सत्ता का व्यवस्थित परिदर्शन हो सके। हम दृष्टिकोणों के उस तारतम्य को भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं जिनकी समग्रता सत्ता के बारे में अप्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करा सकती हैं, क्योंकि सत्ता एवं सर्वसमावेशी क्षितिजों का आश्रय है, वह स्वयं क्षितिज या उनकी समग्रता नहीं है।

सर्वसमावेशी हमारे लिए दो विरोधी स्वरूपों में दृश्य और अदृश्य होता है—एक/सत्ता-अपने-रूप में अथवा जिसमें और जिसके द्वारा हम हैं तथा दो/या उस सर्वसमावेशी के रूप में जो हम हैं और जिससे सत्ता का प्रत्येक प्रकार हमारे सम्मुख प्रकट है। दोनों ही स्थितियों में सर्वसमावेशी न तो सत्ता की कुछ कालिक स्थितियों का जोड़ है जिसके अन्तर्तथ्य के अंश को हम जानते हों, वरन् वह सम्पूर्ण है, सत्ता का आत्म-आधारी आश्रय है। सर्वसमावेशी कभी भी अनुभव के विषय के रूप में प्रकट नहीं होता है और न हम उसे चिन्तन के स्पष्ट विषय के रूप में ही जान सकते हैं। वह शून्य प्रतीत होता है क्योंकि सत्ता का अन्य प्रकार का ज्ञान विशिष्ट का ज्ञान है, व्यक्तिगत सत्ता का ज्ञान है। सर्वसमावेशी को जानने के लिए हमें सत्ता के लिए गहनतम अंतदृष्टि चाहिए।

यास्पर्स का कहना है कि दार्शनिक को यह जानने का प्रयास नहीं करना चाहिए कि सत्ता क्या है, वरन् यह जानने का प्रयास करना चाहिए कि सत्ता का आभास किन-किन रूपों में होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से हम देखते हैं कि दार्शनिक चिन्तन ने सदैव ही विशिष्ट और आंशिक की अंतहीनता के परे सत्ता को जानना चाहा। एरिस्टौटल का कहना है, "और निःसंदेह जो प्रश्न प्राचीन काल और आज या सदैव उठाया गया है तथा जो कभी भी संदेह का विषय नहीं बन पाया, वह प्रश्न है—सत्ता क्या है?" शैलिंग ने भी कहा है कि दर्शन की सबसे प्राचीन और सबसे सही व्याख्या यही है कि यह सत्ता का विज्ञान है। अतः सत्ता के सर्वसमावेशी स्वरूप को समझने के लिए सबसे अधिक स्वाभाविक यही है कि हम दार्शनिक चिन्तन 'सत्ता-अपने-रूप में' से प्रारम्भ करें। इसे दार्शनिकों ने प्रकृति, जगत् या ईश्वर के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु यास्पर्स का कहना है कि हमें उस सर्वसमावेशी से अपनी खोज प्रारम्भ करनी होगी, जो हम हैं।

सर्वसमावेशी जो हम हैं : आनुभविक अस्तित्व, चेतना जैसी है (चेतना अपने मूल या सार्वभौम रूप में), आत्मा

हम सर्वसमावेशी जो हम हैं, को चाहे आनुभविक कहें या चेतना एवं आत्मा कहें, हम किसी भी स्थिति में उसको जगत् में उस वस्तु के रूप में नहीं समझ सकते जो हमारे

सम्मुख प्रकट होती है। अतः विषय के रूप में हम इसका उचित ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते हैं। हम जब इसके बारे में सचेत होते हैं तब इसे एक सीमा के रूप में देखते हैं अथवा जब हम निर्धारित एवं विषयगत ज्ञान का परित्याग कर देते हैं और अपने को अपने से बाहर करके समझने एवं यह जानने का प्रयास करते हैं कि हम क्या हैं, तब हम ऐसा करने में उससे आबद्ध हो जाते हैं जिसे हम देख रहे हैं।

सर्वसमावेशी जो हम हैं को समझने के लिए अनेक जिज्ञासाओं का समाधान करना होगा। सर्वप्रथम यह जानना होगा कि मैं क्या हूँ—मेरा आनुभविक अस्तित्व क्या है? इसके लिये मुझे अपने आप को अपने से बाहर देखना होगा। तब मैं देखता हूँ, हमारी आनुभविक चेतना के सम्मुख यह जड़, जीवन्त देह और आत्मा की विशिष्टताओं के रूप में व्यक्त होता है। यह वह प्राणिक, दैहिक और मनोवैज्ञानिक सत्ता है जो देश और काल में ही सम्भव है। किन्तु आनुभविक अस्तित्व का सर्वसमावेशी मात्र यह विशिष्टताएँ ही नहीं हैं।

अत्यधिक अन्य के रूप में जो मुझे—आनुभविक अस्तित्व—निर्धारित करता है, वह जगत् है। आनुभविक अस्तित्व का सर्वसमावेशी जो मैं हूँ को अन्य विषयों की भाँति जब विषय बना दिया जाता है, तब वह भी जगत् की ही भाँति पराया हो जाता है। आनुभविक अस्तित्व को अन्वेषण का विषय बनाते ही हम जगत् की सत्ता में मिल जाते हैं, जगत् जो कि अबोध्य अन्य है, प्रकृति है। आनुभविक सत्ता के अन्तर्गत मनुष्य की सभी क्रियाएँ—दैहिक, प्राणिक, मनोवैज्ञानिक—आ जाती हैं। किन्तु, वह इनका योग मात्र नहीं है। इन क्रियाओं का विभिन्न विज्ञानों—जीवशास्त्र, मनोविज्ञान, नृतत्वशास्त्र आदि के द्वारा अलग-अलग अध्ययन सम्भव है। किन्तु ये अध्ययन हमारी सत्ता के वास्तविक एवं सम्पूर्ण स्वरूप का ज्ञान प्रदान नहीं कर सकते हैं। अतः सर्वसमावेशी के आनुभविक अस्तित्व (जिससे हम युक्त हैं) का ज्ञान विशिष्ट विज्ञानों के इस दावे का खण्डन करता है कि वे सम्पूर्ण को समझ सकते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि आनुभविक सत्ता सर्वसमावेशी का रूप होने के कारण अपनी सम्पूर्णता में अपरिभाषेय है।

सर्वसमावेशी का दूसरा प्रकार जो मैं हूँ, वह चेतना जैसी है (Consciousness as such) या सामान्य चेतना है। इस चेतना के कारण विभिन्न विषयों का ज्ञान सम्भव हो जाता है अथवा हमारी चेतना के सम्मुख जो प्रकट होता है, जो हमारी चेतना का अनुभव या विचार बन जाता है एवं जिसका हम एक विषय के रूप में अनुभव कर सकते हैं, उसी को हमारे लिए सत्ता है, अन्य की नहीं। हम विभिन्न विषयों का ज्ञान इसलिए प्राप्त करते हैं कि हम आनुभविक अस्तित्व के अतिरिक्त चेतना भी हैं। चेतना की कालिक क्रिया में विषय की उपस्थिति अनिवार्य है। वस्तुओं के ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि वे चेतना की संरचना के अनुकूल हों—ज्ञान का आकार ज्ञेय वस्तुओं का आकार हो।

चेतना के कारण ही ज्ञान वस्तुनिष्ठता प्राप्त करता है। इस स्तर पर विषय-विषयी का भेद सम्भव है। चेतना सार्वभौमिक सत्यों का भी अन्वेषण करती है।

यास्पर्स के अनुसार 'आनुभविक अस्तित्व' और 'चेतना जैसी है' में भेद है। आनुभाविक अस्तित्व अनेक हैं पर 'चेतना जैसी है' एक है। सभी मनुष्यों की 'चेतना जैसी है' एक है। यह चेतना अपने आप में अमूर्त है। यह आनुभविक अस्तित्व के सन्दर्भ में ही मूर्त रूप ग्रहण करती है। हम अगणित अकेली चेतनाएँ ही नहीं हैं, जो कि लगभग एक-दूसरे के समान हैं, वरन् हम 'चेतना जैसी है' भी हैं। चेतना के दो अर्थ हैं : एक/हम जीवित अस्तित्ववान् के रूप में सचेत हैं और इस कारण अभी हम सर्वसमावेशी नहीं हैं। हमारी चेतना जीवन द्वारा संचालित है। जीवन इसका वह अचेतन आधार है जिसका हम सचेतन रूप से अनुभव करते हैं। आनुभविक अस्तित्व के निरपेक्ष सर्वसमावेशी में हम जीवित अस्तित्ववान् होने के कारण अपने आपके लिए अनुभवात्मक निरीक्षण का विषय बन जाते हैं। तब हम अपने आपको विभिन्न जातियों तथा विशिष्ट व्यक्तियों में विभाजित कर देते हैं। दो/'चेतना जैसी है' द्वारा हम सोचते हैं कि हम सत्ता का उल्लेख न केवल भावना और ज्ञान के स्तर पर कर सकते हैं वरन् तादात्म्य की विधि से भी कर सकते हैं। आनुभविक चेतना से यदि हम इस चेतना की तुलना करें तो यह वह चेतना है जो हम सर्वसमावेशी के रूप में है। सच्ची चेतना, जो कि केवल एक ही हो सकती है, की सार्वभौम प्रामाणिकता तथा आत्मगत चेतनाओं की अनेकता के मध्य हमें आकस्मिक परिवर्तन या छलांग मिलती है। अतः मनुष्य को दो रूपों में समझ सकते हैं। जीवित सत्ताओं की चेतनाओं के रूप में मनुष्य (हम) अंतहीन विशिष्ट वास्तविकताओं की अनेकता में विभाजित हो जाता है। यह व्यक्तिगत संकीर्णता में बंदी हो जाना है। 'चेतना जैसी है' के रूप में हम उस अवास्तविकता के भागीदार हो जाते हैं जो सार्वभौम प्रामाणिक सत्य है और 'चेतना जैसी है' के कारण ही हम असीम सर्वसमावेशी है। हम ज्ञान की संभावना तथा सत्ता के सामान्य ज्ञान की संभावना, जो हमारी चेतना के सम्मुख प्रत्येक रूप में व्यक्त होती है, के माध्यम से सर्वसमावेशी में भागीदार बनते हैं। सत्य कालातीत है और हमारी कालिक वास्तविकता कालातीत स्थायित्व का लगभग पूर्ण वास्तविकीकरण है। हमारी जीवित चेतना की कालक्रम में वास्तविकता और 'चेतना जैसी है' की अवास्तविकता में जो सुस्पष्ट भेद परिलक्षित होता है वह परम नहीं है क्योंकि इस भेद का अतिक्रमण संभव है।

यह सर्वसमावेशी के तीसरे प्रकार, आत्मा (Spirit) को समझना है। आनुभविक सत्ता और चेतना के अतिरिक्त हम आत्मा भी हैं। अमूर्त, कालातीत 'चेतना जैसी है' के विपरीत आत्मा कालिक तथ्य है। इसकी तुलना आनुभविक अस्तित्व से कर सकते हैं। आनुभविक अस्तित्व जैविक-मनोवैज्ञानिक विधि से संचालित होता है। किन्तु आत्मा

ज्ञान की स्वसमता से प्रेरित होता है। इसका ज्ञान हम एक प्राकृतिक विषय के रूप में प्राप्त नहीं कर सकते। वह सदैव ही 'चेतना जैसी है' की सार्वभौमिकता को अपना लक्ष्य बनाता है। आत्मा पूर्णता, समग्रता तथा अखण्डता की प्रवृत्ति को अभिव्यंजित करता है। यह बोधगम्य चिंतन, कर्म और भावना की समग्रता है। यह 'चेतना जैसी है' के सत्य के प्रति उन्मुख है तथा, साथ ही, कालातीत और सार्वभौम विचारों के प्रति भी आकर्षित है जो प्रत्येक वस्तु को उसके संबंध तथा स्पष्टता में व्यक्त कर देते हैं। आत्मा प्रत्येक विशिष्ट अस्तित्व की व्याख्या इस भाँति करता है कि वह समग्रता का सदस्य प्रतीत होता है।

सर्वसमावेशी तथा इग्ज़िज्टेन्ज़, रीज़न

यास्पर्स के दर्शन में सर्वसमावेशी के साथ ही रीज़न और इग्ज़िज्टेन्ज का महत्व है। वे मानते हैं कि संभावित इग्ज़िज्टेन्ज के प्रति सचेतनता में हम दार्शनिक चिंतन का मुख्य तत्व पा लेते हैं। इसका कारण यह है कि इग्ज़िज्टेन्ज सर्वसमावेशी ही है। किन्तु इस अर्थ में नहीं कि यह सभी क्षितिजों के क्षितिज की व्यापकता है, वरन् इस अर्थ में कि यह मूलगत स्रोत है, आत्मतत्व का वह आधार है जिसके बिना सत्ता की व्यापकता मरुभूमि बन जाती है। इग्ज़िज्टेन्ज स्वयं कभी विषय या प्रकार नहीं बनता, यह सर्वसमावेशी के प्रत्येक प्रकार के अर्थ को धारण करता है। अतः यह किसी भी विज्ञान का विषय नहीं बन सकता। पर आनुभविक अस्तित्व, 'चेतना जैसी है' तथा आत्मा वैज्ञानिक अनुसंधान की वास्तविकताओं के रूप में जगत् में व्यक्त होते हैं। सर्वसमावेशी के सभी प्रकारों में आत्मा एक इग्ज़िज्टेन्ज के रूप में ही अपने लिए विशुद्धतापूर्वक निश्चित हो सकता है।

यदि इग्ज़िज्टेन्ज की तुलना 'चेतना जैसी है' से करें तो यह हमारे भीतर वह प्रच्छन्न आधार है जिसके सम्मुख परात्पर प्रकट होता है। इग्ज़िज्टेन्ज की आंतरिकता बताती है कि अन्य एवं दूसरा या तो वह सत्ता है जो 'चेतना जैसी है' के लिए जगत् में है और या यह इग्ज़िज्टेन्ज के लिए परात्परता है। स्पष्ट ही बिना इग्ज़िज्टेन्ज के परात्पर का अर्थ खो जाता है। यह मात्र वह है जो सब कुछ का आधार होते हुए भी तटस्थ है, जाना नहीं जा सकता है। परात्पर को समझने के लिए हमें अंधविश्वास, पूर्वग्रह या चिंता की सहायता नहीं लेनी चाहिए। इग्ज़िज्टेन्ज के माध्यम से यह सच्ची वास्तविकता के रूप में व्यक्त हो जाता है, इग्ज़िज्टेंज आत्मा के प्रतिरूप की भाँति है। आत्मा संपूर्ण बनने की इच्छा है, संभावित इग्ज़िज्टेन्ज प्रामाणिक होने की इच्छा है। व्यक्ति आत्मा के रूप में स्वयं नहीं है वरन् संभाव्य व्यक्तियों की एकता है। इग्ज़िज्टेन्ज को दूसरे में परिणत नहीं किया जा सकता है; यह सर्वथा दृढ़ है, अद्वितीय है और इस कारण यह सभी आनुभविक अस्तित्वों, 'चेतना जैसी है' और आत्मा के प्रतिकूल है। यह परात्पर के सम्मुख प्रामाणिक सत्ता है और उसी के प्रति, बिना किसी आरक्षण के, यह अपने

आपको समर्पित करता है। आत्मा की आस्था सार्वभौम प्रत्यय का जीवन है। यहाँ पर यह मानना होगा कि यह कहना प्रामाणिक है कि 'विचार सत्ता है।' जब इग्ज़िज़्टेन्ज़ की तुलना 'चेतना जैसी है', आत्मा अथवा सर्वसमावेशी के किसी अन्य प्रकार से करते हैं तो एक ही वस्तु व्यक्त होती है, और यह है इग्ज़िज़्टेन्ज़। अतः बिना इग्ज़िज़्टेन्ज़ के सब कुछ निस्सार है, आधारहीन है, कृत्रिम एवं झूठा है; बिना इसके प्रत्येक वस्तु अंतहीन आवरणधारी, मात्र संभावना, मात्र आनुभविक अस्तित्व लगती है।

इग्ज़िज़्टेन्ज़ के संदर्भ में यास्पर्स 'रीज़न'[1] को समझाते हैं। यह सर्वसमावेशी के विभिन्न प्रकारों को युक्त करता है। हमें सर्वसमावेशी के जो प्रकार मिलते हैं, वे ये हैं—

1/सत्ता दूसरे के रूप में, जो या तो जगत् है या परात्पर—सत्ता-अपने-रूप में।

2/सर्वसमावेशी की वह सत्ता जो हम हैं अथवा वह जो या तो हमारा आनुभविक अस्तित्व है या 'चेतना जैसी है', और/या आत्मा है।

सर्वसमावेशी के सभी प्रकारों का आधार और प्रेरणा जिसे इंगित करते हैं, वह है इग्ज़िज़्टेन्ज़।

इग्ज़िज़्टेन्ज़ से रीज़न अविमोचनीयतापूर्वक युक्त है। इसका संबंध सर्वसमावेशी के सभी प्रकारों से है। अतः यह कोई प्रकार नहीं है जिसके द्वारा सर्वसमावेशी व्यक्त होता है, किन्तु यह वह एकता एवं बंधन (बौंड) है जो उसके सभी प्रकारों को व्यक्त करती है। यह कोई नयी संपूर्णता भी नहीं है, यह निरंतर आवश्यकता और गति है। रीज़न का यास्पर्स उस अर्थ में प्रयोग नहीं करते हैं जिस अर्थ में इसका प्रयोग किर्कगार्ड या नीत्शे ने किया है। रीज़न और इग्ज़िज़्टेन्ज़, यास्पर्स के दर्शन में, एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। इन दोनों का संबंध उसका सूचक है जो इनके परे जाता है। रीज़न सत्य और स्पष्टता का सूचक है तथा इग्ज़िज़्टेन्ज़ उस असीम गहनता का जो निर्धारित ज्ञान में बाँधा नहीं जा सकता।

1. "जर्मन भाषा में और विशेषकर यास्पर्स के दर्शन में reason शब्द का अर्थ तार्किक बुद्धि नहीं है। तार्किक बुद्धि के लिए उन्होंने Understanding शब्द का प्रयोग किया है। उनकी धारणा है कि तार्किक बुद्धि सत्य का द्योतक नहीं है, क्योंकि तार्किक बुद्धि विच्छेद करती है, विभेद प्रस्तुत करती है। विबोध (reason) संहत करता है, एकीकरण प्रस्तुत करता है। तार्किक बुद्धि विश्लेषणात्मक है, विबोध संश्लेषणात्मक है। तार्किक बुद्धि व्यर्थ नहीं है, किन्तु उसकी सीमाएँ हैं। अस्तित्व के रहस्य को समझने के लिए विबोध ही सहायक है।"

जयदेव सिंह : समकालीन दर्शन, पृ० 100-101 (विकास पब्लिशिंग हाउस, 1979)

रीज़न के विभिन्न स्वरूपों की व्याख्या करते हुए यास्पर्स समझाते हैं कि यदि रीज़न का अर्थ विषयपरक चिंतन है तो यह अन्य कुछ नहीं है, वरन् 'चेतना जैसी है' का सर्वसमावेशी है। इस दृष्टि से इसे जर्मन प्रत्ययवाद की परंपरा में 'अंडरस्टैंडिंग' (Verstand)[1], बोध कहना ठीक होगा। पर यदि इसका अर्थ समग्रताओं का मार्ग है, प्रत्यय (आइडिया) का जीवन है, तब यह आत्मा का सर्वसमावेशी है। किंतु जब रीज़न से अभिप्राय सर्वसमावेशी के सभी प्रकारों में विचार (thought) के उत्कर्ष से है तब इसे मात्र चिंतन तक सीमित नहीं किया जा सकता, यह उससे अधिक है एवं उसकी सीमाओं से परे है। विचार की उत्कर्षता के कारण रीज़न सीमाओं का निरंतर अतिक्रमण करके सर्वसमावेशी के सभी प्रकारों को प्रकाशित कर सकता है। यह उस परम प्रामाणिक सर्वसमावेशी की भाँति है जो अदृश्य रहता है। यह केवल सर्वसमावेशी के उन प्रकारों में दृश्य होता है जिनमें यह गतिशील रहता है। रीज़न अपने आप में स्रोत नहीं है, क्योंकि यह 'सर्वसमावेशी बंधन' है। यह उस स्रोत की भाँति है जिसमें अन्य सभी स्रोत पहले प्रकाश को प्राप्त करते हैं। रीज़न दार्शनिक चिंतन की वह अशम्य प्रेरणा है जो रीज़न को प्राप्त करना चाहती है। अतः रीज़न वह है जो मानी गई बुद्धि के सभी व्यतिक्रमों, संकीर्णताओं से ऊपर है। यह एकता की ओर अग्रसर होता है। यह न तो सर्वसमावेशी के किसी प्रकार में बंदी हो सकता है और न यह आनुभविक अस्तित्व के संकल्प की संकीर्णता को स्वीकार कर सकता है। अतः किसी निर्धारित रूप में इसे परिबद्ध नहीं किया जा सकता है और न इसे आत्म-परिप्राप्त ही कहा जा सकता है।

'रेशनल' प्रवृत्ति को समझाते हुए यास्पर्स कहते हैं कि इससे उनका अभिप्राय असीम स्पष्टता से है। वैज्ञानिक विधि से जब मैं आनुभविक वास्तविकता को समझना चाहता हूँ, तब मैं भलीभाँति सचेत रहता हूँ कि वैज्ञानिक दृष्टि तथा सामान्य स्पष्टता की सीमा होती है। रीज़न भी अपने आप में कालातीत स्थायित्व नहीं है, न यह सत्य का शांत क्षेत्र है, न यह सत्ता-अपने-रूप में है और न यह कोई आकस्मिक विचार या कोई क्षण मात्र है। यह बाँधने वाली और स्मरण करने वाली प्रगतिशील शक्ति है जिसे अपने सारतत्व अपनी ही सीमाओं से प्राप्त होते हैं। यह शक्ति अपना अविरत असंतोष व्यक्त करते हुए प्रत्येक सीमा के परे जाती है। यह सर्वसमावेशी के सभी प्रकारों में व्यक्त होती है यद्यपि यह अपने आप में कुछ नहीं प्रकट होती है।

रीज़न और इग्ज़िज़्टेन्ज़ हमारी सत्ता के दो ध्रुव हैं। ये सर्वसमावेशी के प्रत्येक प्रकार में एक-दूसरे का सामना करते हैं तथा अभिन्न हैं। इस कारण एक के अदृश्य होने पर दूसरा भी अदृश्य हो जाता है। रीज़न अपना सारतत्व इग्ज़िज़्टेन्ज़ द्वारा प्राप्त करता है और इग्ज़िज़्टेन्ज़ रीज़न द्वारा स्पष्ट होता है। रीज़न बिना सारतत्व के एवं बिना

1. देखिए Philosophy, Vol. I, p. xv (Translator's Note)

इग्ज़िज्टेन्ज़ के निस्सार है। ऐसी स्थिति में यह मात्र बोध (Understanding) कह-लाएगा। बोध के संप्रत्यय बिना अंतःप्रज्ञा के शून्य हैं, रिक्त हैं। रीज़न अपने आप में मात्र बोध नहीं है यह केवल संभावित इग्ज़िज्टेन्ज़ के कर्मों में ही ऐसा है।

अपने से अपर एवं इग्ज़िज्टेन्ज़ के सारतत्व के प्रति रीज़न अभिमुख होता है क्योंकि इग्ज़िज्टेन्ज़ ही इसका आश्रय है। इग्ज़िज्टेन्ज़ ही अपने आपको रीज़न में स्पष्ट करता है तथा उसे निश्चित प्रेरणाएँ देता है। रीज़न की भाँति इग्ज़िज्टेन्ज़ भी दूसरे के प्रति अभिमुख है। यह परात्पर से संबंधित है और उसी के द्वारा यह पहले जगत् का स्वतंत्र कारण बना। यह अपने-आप में सृष्टि नहीं करता है क्योंकि बिना परात्पर के यह प्रेमरहित तथा निस्पंद है। इसे रीज़न की भी आवश्यकता होती है। बिना रीज़न के यह निष्क्रिय और निद्रित है। रीज़न द्वारा यह पहले व्यग्रता तथा परात्पर के आग्रह का अनुभव करता है। यास्पर्स के दर्शन में इग्ज़िज्टेन्ज़ वह बृहत् तत्व है जो रीज़न द्वारा स्पष्ट होता है एवं रीज़न उसे सृष्टि के प्रति उद्‌बुद्ध करता है।

स्पष्ट ही रीज़न और इग्ज़िज्टेन्ज़ दो विरोधी शक्तियों की भाँति नहीं हैं, वरन् ये एक-दूसरे के लिए आवश्यक हैं। एक-दूसरे के द्वारा ही ये रहते हैं तथा परस्पर एक-दूसरे का विकास करते हैं अथवा ये एक-दूसरे के द्वारा ही स्पष्टता तथा वास्तविकता को प्राप्त करते हैं। अतः रीज़न को बिना इग्ज़िज्टेन्ज़ के नहीं समझ सकते हैं क्योंकि बिना इग्ज़िज्टेन्ज़ के यह चेतना की बौद्धिक गति मात्र है अथवा आत्मा का द्वंद्वन्याय है। और तब यह ऐतिहासिकता से विच्छिन्न होकर रीज़न नहीं रहता है।

दाज़ाइन और इग्ज़िज्टेन्ज़

यास्पर्स के अनुसार मनुष्य का कोई स्थायी सारतत्व या स्वरूप नहीं है।[1] उसे दो प्रकार से समझा जा सकता है। यह प्रकार उसकी सत्ता के दो सुस्पष्ट किंतु अपृथक् रूपों—दाज़ाइन और इग्ज़िज्टेन्ज़[2]—पर प्रकाश डालते हैं। मेरा अपने आपको विषय के रूप में देखना, मेरी संपूर्ण अनुभवात्मक वास्तविकता दाज़ाइन है। 'इग्ज़िज्टेन्ज़' से उसका मुख्यार्थ और लक्ष्य व्यक्ति की सत्ता है, न कि उस सामान्य अस्तित्व से है जिसे अंग्रेजी शब्द 'इग्ज़िज़्टेन्ज़' इंगित करता है। इग्ज़िज्टेन्ज़ एवं अस्तित्व मेरी अपनी आत्मा

1. यास्पर्स मानते है कि कहीं भी कोई स्थायी संरचना एवं प्रारूप हमें नहीं मिलता है, क्योंकि अंततः सभी का विनाश हो जाता है। मनुष्य इसी सामान्य नियम के अधीन है। उसमें जो कुछ भी है, वह क्षणिक है। विनाश ही प्रत्येक व्यक्ति, मानव जाति की नियति है।

2. Dasein (Da=वहाँ, sein=सत्ता) and Existenz)

है, इसे विषय की भाँति नहीं जाना जा सकता। इसके बारे में सोचना इसे मार डालना है। इसे घटनाओं के पीछे एक विषयी के रूप में भी समझना संभव नहीं है। मेरा अस्तित्व मेरा ही है, यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो सामान्य हो।[1] दाज़ाइन का अपना स्वभाव और विशेषताएँ हैं, इसकी विशेषताएँ अत्यधिक समृद्ध हैं, यद्यपि इसकी संभावनाएँ निर्धारित हैं। इसकी समृद्ध संभावनाओं को निर्दिष्ट स्थिति तक सैद्धांतिक चिंतन द्वारा समझ सकते हैं। अस्तित्व नई संभावनाओं के लिए अनंत रूप से उन्मुक्त है। यह सैद्धांतिक अनुसंधानों के लिए पूर्णतः अपारदर्शी है। इसका न तो निरीक्षण कर सकते हैं और न इसकी परिभाषा ही दे सकते हैं। दार्शनिक चिंतन ही इस अपरिभाषेयता को प्रकाशित कर सकता है तथा इतर अस्तित्व को भी संचारित कर सकता है। दाज़ाइन और अस्तित्व में यह स्पष्ट भेद है कि दाज़ाइन निर्दिष्ट है और अस्तित्व स्वतंत्र है। मेरी सत्ता के दोनों रूप—दाज़ाइन और इग्ज़िज्टेन्ज़—विरोधी हैं, और इसलिए, दोनों के मध्य संघर्ष रहता है। साथ ही ये अभिन्न रूप से संबंधित भी हैं। मेरा इग्ज़िज्टेन्ज़ मेर दाज़ाइन में है और इसके समस्त कर्म दाज़ाइन में अभिव्यक्त होते हैं।

दाज़ाइन को जगत् अथवा दूसरों के संदर्भ में समझना होगा। वह जगत् में दूसरों के साथ है और उनसे अभिन्न रूप से संबंधित है। अस्तित्व भी एक असम्बद्ध इकाई नहीं है। मैं जगत् में हूँ, जगत् वह क्षेत्र है जहाँ मेरी अभिरुचियों एवं वरण को कर्म में अभिव्यक्त होना ही होता है। परात्पर तथा अन्य अस्तित्वों से अपने संबंध में मैं हूँ। यह अस्तित्व सांत हैं; दुःख, संघर्ष, अपरिहार्यता, पाप तथा मृत्यु की सीमांत स्थितियों से सीमित है। ये स्थितियाँ न तो शुभ हैं और न अशुभ ही। मैं न तो इन्हें समझ सकता हूँ और न इनके लिए कुछ कर ही सकता हूँ; न मैं इन्हें चतुर योजनाओं द्वारा टाल या जीत ही सकता हूँ। ये निरंतर सभी मानव कर्मों को नियंत्रित करतीं अथवा जीवन की अनिवार्य बाधाओं के रूप में ये रहती हैं। मैं इन्हें केवल उन सीमाओं के रूप में समझ सकता हूँ जो मुझे घेरे रहती हैं। किंतु दाज़ाइन जगत् में अपनी सत्ता को दीर्घ बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। इस प्रयत्न के क्रम में वह अपनी इच्छाओं के विश्व में खो जाता है। वह परम सीमाओं की उपेक्षा कर देता है अथवा अक्सर उनके बारे में अचेतन रहता है। किंतु ऐसा करके वह, सचमुच में, सीमाओं को टाल नहीं पाता क्योंकि ये सीमाएँ सदैव वर्तमान रहती हैं। अस्तित्व इनके बारे में सचेत रहता है, अपनी सचेतता के कारण मैं अपने आपको प्रामाणिकतापूर्वक तथा स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्त करने के लिए प्रेरित होता हूँ। इसके साथ ही मुझमें यह बोध रहता है कि एक सर्व-परिवृत्त सत्ता है, सर्वसमावेशी है जो जगत् में व्याप्त तथा उसे घेरे हुए है। किन्तु वह अपने आप में पूर्णतः अनिर्धारित और अपरिभाषेय है।

1. यास्पर्स का अस्तित्व का विश्लेषण, यहाँ पर, कांट से भिन्न है।

मनुष्य का विश्लेषण : स्वतंत्रता और वरण

यास्पर्स व्यक्ति के जीवन की सत्ता के तीनों प्रकारों के आधार पर समझाते हुए कहते हैं कि यद्यपि वह आध्यात्मिक और भौतिक जगत् का नागरिक है तथापि आध्यात्मिकता ही उसकी सच्ची वास्तविकता को व्यक्त करती है। 'आधुनिक जगत् और मनुष्य'[1] में यांत्रिक सभ्यता के मनुष्य का विश्लेषण करके उन्होंने कहा कि मनुष्य वह यंत्र मात्र है जो अपनी आध्यात्मिक धुरी और अंतरात्मा खोता जा रहा है। मनुष्य को उन्होंने 'आधुनिकता के जबड़ों' एवं 'सामूहिकता के पंजों' से निकलने का संदेश दिया है और इसके माध्यम से उसे व्यक्तिगत अस्तित्व की वास्तविकता के प्रति प्रबुद्ध करने का प्रयास किया है। 'सत्ता-वहाँ' के जीवन की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि जो व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता, 'अभीष्ट वरण के स्वातंत्र्य का उपयोग नहीं करता है, वह सामूहिकता के अप्रामाणिक जीवन को जीता है। ऐसा व्यक्ति मशीन का पुर्जा मात्र है। यदि व्यक्ति अपने प्रामाणिक जीवन को चरितार्थ नहीं कर पाता है अथवा यदि "मैं" अपने प्रति सचेत नहीं होता हूँ और 'सत्ता-स्वयं-में' के क्षेत्र में अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग नहीं करता हूँ, तो मैं 'सत्ता-वहाँ' में ही रह जाता हूँ। परिणामतः 'मैं' एक वस्तुगत ढंग से निर्धारित वस्तु की भाँति हो जाता हूँ। किन्तु जब मैं अपने आप में आता हूँ, तब मुझे यह बोध भाव-विह्वलता तथा पीड़ा से युक्त कर देता है कि जो कुछ मैं सोचता, वरण करता, निर्णय लेता या कर्म करता हूँ, वह 'सत्ता-वहाँ' के ठोस धरातल से मुझे अलग कर देता है। ऐसी स्थिति में मैं संघर्षरत हो जाता हूँ। यह समझना कि मैं वस्तु नहीं हूँ, वरन् एक संभावित अस्तित्व हूँ (मैं-क्या-होऊँगा), इस संभावित अस्तित्व के प्रति सचेतना मुझे मेरे सार-तत्व की ओर ले जाती है।

पूर्णरूप से जागृत आत्म-चेतना ही मेरी स्वतंत्रता एवं मेरी ऐकान्तिकता की चेतना है। यह वस्तुनिष्ठता और ज्ञान नहीं है, वरन् वरण है। अपनी ऐकान्तिकता और स्वतंत्रता में मैं चिंतनशील बुद्धि नहीं हूँ। मैं वह मूर्त शरीरधारी व्यक्ति हूँ जिसे एक विशिष्ट परिस्थिति के संदर्भ में संकल्पयुक्त होना है। तब यह दार्शनिक प्रश्न उठता है, मैं क्या हूँ ? इसका उत्तर मुझे बताता है कि मेरा आवेगों-सहजप्रवृत्तियों का जीवन, सामाजिक जीवन, आकांक्षाएँ, कर्त्तव्यपरायणता, आदेशों का पालन, वस्तुगत जगत् आदि सभी मुझे अपने से छिपाते हैं। अतः मैं पूर्णरूप से इनसे युक्त नहीं हो सकता हूँ। मेरा अस्तित्व मेरी मौलिक स्वतंत्रता का सूचक है। मेरे लिए अस्तित्व का अर्थ है अपनी स्वतंत्रता में सक्रिय रूप से वरण करना।

1. Man in the Modern Age (Routledge and Kegan Paul, 1934)

मेरी स्वतंत्रता की चेतना, सत्ता-स्वयं में का व्यक्तिगत अस्तित्व, मुझमें यह बोध जागृत करती है कि आत्मा जगत् में स्थितियों से बँधी हुई है। इन स्थितियों को एक विशिष्ट स्थिति तक ही बदला जा सकता है। अतः इनके बीच रहने की पद्धति मुझे सीखनी पड़ती है। परिस्थितियों के मध्य रहने की विधि सीखने के कारण मैं अपनी ऐतिहासिकता एवं अपने विगत, अपने माता-पिता, कर्त्तव्य-पालन, आवेगों-सहजप्रवृत्तियों आदि एवं अपने भाग्य को स्वीकार कर लेता हूँ। ऐसी स्थिति में मैं बाह्य जगत् में इतना अधिक रम जाता हूँ कि मैं प्रच्छन्न हो जाता हूँ अथवा वस्तुगत जगत् मुझे, मुझी से छिपा देता है। ऐतिहासिकता के प्रति समर्पण सकारात्मक है, किन्तु साथ ही यह सदैव ही अन्य संभावनाओं के साथ संघर्षरत रहता है। मैं अपने भाग्य से बँधा हूँ, उसे उतना ही प्यार करता हूँ जितना अपने आपको करता हूँ। अथवा यास्पर्स कहते हैं—मेरी स्वतंत्रता जब तक वास्तविकता को स्वीकार नहीं कर लेती है एवं संभावनाओं की भूमि में ही जब तक अपने को रखती है, तब तक उसका किसी सीमा से संघर्ष नहीं होता है। पर तब मैं 'कुछ नहीं' हो जाता हूँ। मैं अपने देह, सामाजिक जीवन, कर्म, चरित्र मात्र नहीं हूँ। इन सबके मूल में मेरी स्वतंत्रता है, मेरी संभावनाओं का स्रोत है अथवा वह है जो मैं होना चाहूँगा। स्वतंत्रता में मेरा यह सक्रिय वरण ही मेरा अस्तित्व है।

वरण, यास्पर्स के अनुसार, विभिन्न विकल्पों के मध्य अनिश्चित ढंग से कुछ भी चुन लेना नहीं है, "यह मेरे अंदर से उत्पन्न होता है और सीधे अपने लक्ष्य की ओर जाता है।" अतः वरण संयमित एवं नियंत्रित होता है, इसमें कर्त्तव्य के लिए स्थान है। पर कर्त्तव्य स्रोत के नीचे है क्योंकि मैं नैतिक नियमों के अधीन नहीं हूँ। मैं और नैतिक नियम एक नहीं हैं। मैं वह हूँ जो नैतिक नियमों को अंगीकार करता है क्योंकि मेरा सारतत्व मेरी स्वतंत्रता है।

जब अपने सारतत्व के प्रति सचेत होकर मैं अपने आपको निर्णयों और वचन-बद्धताओं में पाता हूँ तो मेरा वरण परम और अस्तित्ववादी होता है। इस वरण को न तो प्रेरणा के रूप में समझाया जा सकता है और न इसे किसी मनोवैज्ञानिक, बौद्धिक या नैतिक सिद्धांत के रूप में ही समझाया जा सकता है। यह मूलगत है, मेरा अपने बारे में वरण है। पर चेतन निर्णयों, जिनके द्वारा मैं अपने आपको 'सत्ता-स्वयं में' के स्तर पर संस्थापित करता हूँ, के परे एक मौलिक आत्मा है। यह आत्मा एक देह, स्वभाव और प्रवृत्ति से युक्त है तथा इतिहास में एक मूर्त स्थिति को धारण करती है। इस मौलिक आत्मा का मैं वरण नहीं करता हूँ, यह मुझे प्राप्त है। मैं अपने से अपने आपका तादात्म्य स्थापित करता हूँ और देह के प्राणिक आवेगों, प्रकृति के क्रूर तथ्यों, कर्त्तव्य की बाध्यता, अपनी स्थिति की सीमाओं आदि को स्वीकार करता हूँ, उनका सामना करता हूँ; ये मेरे निर्णय में आते हैं, किन्तु मैं इनके अधीन नहीं हूँ। ये वे स्थितियाँ और बाधाएँ हैं जो यदि

मुझमें संकल्प और क्षमता है तो मुझे मेरी स्वतंत्रता की उड़ान में बनाए रखती हैं। यह सच है कि उड़ान पूर्णतः सफल नहीं हो सकती, किन्तु साथ ही यह भी सच है कि प्राप्ति का प्रयास अपनी असफलता में आत्म-उत्कर्ष प्रदान कर सकता है। अतः मेरा प्रामाणिक वरण अनिवार्य है। मैं अपने आपके लिए एक वरदान हो जाता हूँ। मैं यह समझता हूँ कि मुझे जगत् में अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करना है और उसे परात्पर में खो देना है। यह परात्पर ही स्वतंत्रता का आधार, सीमा, स्रोत और लक्ष्य है। मुझे जिस आत्मा को बनाना है, प्राप्त होना है, वह वह आत्मा है जो मैं अपनी ऐतिहासिक और परात्पर स्थिति में हूँ।

मेरी प्रामाणिकता मेरी स्वतंत्रता में है। मैं स्वतंत्र हूँ, किन्तु आत्म-पर्याप्त नहीं हूँ। मैं जो हूँ, वही हो सकता हूँ। अपनी स्वतंत्रता में मैं जगत् की उस स्थिति पर ही निर्भर नहीं हूँ जो मुझ पर सीमा आरोपित करती है, वरन् उस परात्पर पर भी निर्भर हूँ जिसके सम्मुख मैं हूँ। अतः मैं जगत् में अपनी स्थिति को स्वीकार करते हुए उसका अतिक्रमण करने का प्रयास करता हूँ। स्पष्ट ही, मैं अपनी स्वतंत्रता में निरपेक्ष हूँ और दुहरा निर्भर हूँ। मैं उन सीमित ध्येयों को स्वीकार करता हूँ जो मेरे संकल्प के लिए बाधाएँ हैं तथा सभी परम हताशाओं को भी स्वीकार करता हूँ। मैं जिस स्थिति में अपने को पाता हूँ, वह स्वतंत्रता की है और उस निरपेक्ष आत्मा जिसमें मैं लौटता हूँ और जिसमें मैं अपने को पुनर्जीवित एवं पुनःस्थापित करता हूँ, वह मेरी उत्कर्ष की स्थिति है।

मानव-जीवन में निहित सीमाएँ

यास्पर्स का दर्शन यह मानता है कि व्यक्ति को जगत् एवं मानव परिस्थिति में निहित अनिवार्य सीमाओं—मृत्यु, दुःख, संघर्ष, अपूर्णता, असफलता आदि—का सामना करना पड़ता है। इन सर्वव्याप्त अनिवार्य सीमाओं के कारण ही मानव-जीवन भयंकर असुरक्षा एवं असाध्यता से आक्रांत है। इनकी अद्वितीय तिक्तता का व्यक्तिगत अनुभव मनुष्य को यह स्वीकार करने के लिए बाधित करता है कि ये निर्धारित हैं किन्तु साथ ही यह भी इंगित करता है कि ये चरमांत नहीं है। ये वे सीमाएँ हैं जहाँ 'सत्ता-अपने-आप में' का सामना करना होता हैं। इसे समझाने के लिए मृत्यु का उदाहरण दे सकते हैं। मृत्यु से जब तक मैं भागता हूँ, उसे भूले रहता हूँ अथवा मात्र यह ध्यान में रखता हूँ कि यह अनिवार्य परिणति है, तब तक मृत्यु 'सत्ता-वहाँ' के जगत् के एक अनुभवात्मक विषय का अनुभवात्मक तथ्य है। अतः यह मेरे जीवन का विधायक नहीं है और जहाँ तक यह नहीं है, मैं 'सत्ता-स्वयं में' के स्तर पर नहीं जी रहा हूँ। मेरी मृत्यु विद्यमान है, वह मेरे साथ उस घटना की विधायक है जिसमें मेरा संपूर्ण जीवन अभिव्यक्त होता है। इसी

भाँति मैं देखता हूँ कि जब मेरे घनिष्ट मित्र की मृत्यु हो जाती है, तब मेरा उसके साथ संप्रेषण या सम्पर्क तो भंग हो जाता है किन्तु उसकी उपस्थिति पूर्णतः विनष्ट नहीं होती; मेरी उसके प्रति निष्ठा के कारण वह रहती है, मुझे प्रभावित भी करती है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है : क्या सारतत्व रहता है ? क्या इसका कोई वस्तुगत प्रमाण या परीक्षण संभव है ? किन्तु इसका उत्तर मेरे अंदर है, मेरे लिए यह समझने की आवश्यकता है कि मैं, बिना अपने आपको जगत् में खोए, अपने को जगत् में चरितार्थ कर सकता हूँ और मृत्यु को एक प्राकृतिक निष्पत्ति के रूप में, बिना उसमें अपना आश्रय खोजे, चाह सकता हूँ। ऐसी स्थिति में, मृत्यु एक सीमा मात्र नहीं है, वरन् एक संकेत और प्रमाण है। मैं अपने आपको 'सत्ता-स्वयं में' के स्तर पर दुःख से अलग कर भी नहीं सकता हूँ क्योंकि सदैव ही दूसरों का दुख है। मात्र सुख एक प्रकार की निद्रा है जिसमें हम सच्ची सत्ता के बारे में सचेत नहीं रहते हैं। संघर्ष और हिंसा मानव-संस्कृति में गुंथे हुए हैं। जगत्-जीवन का भागीदार होने के कारण मुझे उन्हें स्वीकार करना पड़ता है। ऐसा कोई परम सिद्धांत भी नहीं बनाया जा सकता जो मुझे बता सके कि प्रत्येक मूर्त स्थिति में मुझे हिंसा और संघर्ष के मध्य क्या चुनना चाहिए। यह भी सत्य है कि इन दोनों में से कोई भी परम और सार्वभौम न्याय, शांति, संगति स्थापित नहीं कर सकते।[1]

जीवन में निहित अनिवार्य सीमाओं एवं व्यक्तिगत सीमाओं के भीतर ही मुझे अपने जीवन का निर्माण करना होता है अथवा मानव-परिस्थिति में निहित अनिवार्य सीमाएँ, वे सीमांत भी हो सकते हैं जहाँ परात्पर मिलता है। यास्पर्स के ऐसे दर्शन में जगत् से दूर रहने तथा ईश्वर के साथ प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करने के रहस्यवादी सिद्धांत के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि यदि ईश्वर है तो वह जगत् से अलग नहीं है; इस दर्शन में सर्वेश्वरवाद के लिए भी स्थान नहीं है, क्योंकि ईश्वर और जगत् एक नहीं है।[2] ईश्वर

1. H. J. Blackham : Sir Existentialist Thinkers, pp. 52-53.

2. धर्म को यास्पर्स अस्वीकार करते हैं क्योंकि उसमें व्यक्ति-स्वातंत्र्य के लिए स्थान नहीं है, उसका रूप आदेशात्मक है तथा वह यह दावा करता है कि वह परात्पर का अनुभव प्रदान कर सकता है। धर्म की वह इसलिए भी आलोचना करते हैं कि वह उस परे की बात करता है जो दूसरा जगत् है, न कि उस परे की जो इस जगत् का प्रच्छन्न अर्थ है एवं जो इस जगत् की बहुलता तथा अभावों द्वारा जाना जा सकता है। वास्तव में यास्पर्स धर्म और अनीश्वरवाद, आदर्शवाद और भाववाद, जड़वाद, सुखवाद एवं कांट, शैलिंग, प्लेटो, नव्य-प्लेटोवाद, हीगल आदि सभी की आलोचना करते हैं। यद्यपि अपनी आलोचना द्वारा इनका पूर्ण निराकरण नहीं करते हैं क्योंकि वे इनको अपने दर्शन में, अपनी प्रणाली के माध्यम से, आंशिक स्थान प्रदान कर देते हैं।

जगत् में प्रच्छन्न और प्रकट दोनों ही है। हम ईश्वर के आस्तित्व को प्रमाणों द्वारा भी सिद्ध नहीं कर सकते हैं, प्रमाणित ईश्वर ईश्वर नहीं है। किन्तु ये प्रमाण विचारों के रूप में उपयोगी हैं, ये मनुष्य का ध्यान आकर्षित करते हैं उसके रूपांतर में, सत्ता के प्रति उसकी चेतना जागृत करने में सहायक होते हैं।

संप्रेषणीयता के रूप में सत्य : सर्वसमावेशी के वैपुल्य से संप्रेषण द्वारा एका

संप्रेषणीयता को सत्य से युक्त कर यास्पर्स इसके महत्व को मानव-अस्तित्व के संदर्भ में समझाते हैं। पहले तो मनुष्य की पशु से तुलना करते हुए कहते हैं कि पशु सहजप्रवृत्तियों द्वारा कार्य करते हैं; वे इन्हीं के माध्यम से एक-दूसरे को समझते हैं तथा अपने आपको समझाते एवं स्पष्ट करते हैं। वे दूसरों के साथ अपने को पाते हैं, संकेत का प्रयोग करते हैं, व्यष्टि होते हुए वे दूसरों से युक्त होते हैं। किन्तु मानव-संबंध या एकता को हम इस भाँति नहीं समझा सकते हैं। उनका दूसरों के साथ व्यापार पशुओं की भाँति अचेतन कर्म का परिणाम नहीं है क्योंकि मानव-समाज पशु-समाज से भिन्न है। वह पशु-समाज की भाँति सहज नहीं है। जगत् में एक सर्वसामान्य चेतन ध्येय, सत्य तथा ईश्वर से संबंध के माध्यम से मानव-समाज रूप ग्रहण करता है। यह इन परिवर्तनशील संभाव्य तत्वों के संबंध से निरंतर संचालित होता है। निरंतर परिवर्तन के मार्ग पर होने के कारण इसका आदि और अंत भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। यह अपने आपको स्थापित-पुनर्स्थापित करता है, सीमित और विस्तारित करता है, अपना परीक्षण करता है और आगे बढ़ता है क्योंकि इसकी कोई परम स्थिति—अंतिम विश्राम-स्थल—नहीं है। वक्रपथों, त्रुटियों, पुनर्प्राप्ति और कलाबाजियों के तनाव में इसको रहना पड़ता है। इस कारण मानव-स्वभाव मात्र आनुवंशिकता का परिणाम नहीं है। व्यक्तियों को एक-दूसरे के सम्मुख निरावरण होना पड़ता है क्योंकि सत्ता-स्वयं में के स्तर पर संप्रेषण के लिए औपचारिकता, रूढ़ियाँ, रीति-रिवाज और सामान्य शिष्टाचार अपर्याप्त हैं। अपने आपको दूसरों के सामने उन्मुक्त करने पर व्यक्ति स्वयं हो जाता है तथा दूसरे को अपने पास ले आता है। संप्रेषण सत्ता-स्वयं में के जगत् में होता है तथा इसका अर्थ उसका भागीदार होना नहीं है जो सामान्य है, वरन् प्रत्येक की प्रामाणिक विशिष्टता को महत्व देना है।

यास्पर्स अस्तित्ववादी और बौद्धिक संप्रेषण की व्याख्या करते हैं। आनुभविक अस्तित्ववानों के लिए, उनके अनुसार, मुख्य समस्या यही है कि वे कैसे एक-दूसरे को समझें, कैसे उन्हीं बातों और वस्तुओं के बारे में सोचें और संकल्प करें कि एक-दूसरे के साथ सक्रिय रूप से बँध जाएँ। तभी प्रामाणिक मानव सारतत्व, इग्ज़िज़्टेन्ज़ और रीज़न का इतनी गहनता से संप्रेषण में स्पर्श हो पाता है जितना कि अन्य कहीं नहीं हो पाता।

अस्तित्व का संघर्ष अथवा जीने का संघर्ष शक्ति, अभिमान, श्रेष्ठता और विनाश का संघर्ष है। किंतु इग्ज़िज़्टेन्ज़ के सारतत्त्व के लिए संघर्ष शक्ति की आकांक्षा से रहित है। यह वह संघर्ष है जहाँ व्यक्ति तभी आगे बढ़ता है जब दूसरा भी बढ़ता है, जहाँ दूसरे की हानि मेरी भी हानि है। आगे बढ़ना परंपरा का भी परिणाम है। प्रत्येक नई मानव-सत्ता अपना जीवन संप्रेषण में प्रारंभ करती है, न कि मात्र अपने जैविक स्वभाव से। मनुष्य की पशु से तुलना यह इंगित करती है कि मानव-सत्ता की सार्वभौम शर्त संप्रेषण है। यह उसका अत्यधिक व्यापक सारतत्त्व है। मनुष्य क्या है और उसके लिए क्या है का संबध संप्रेषण से ही है। सर्वसमावेशी जो हम हैं वह प्रत्येक प्रकार तथा संप्रेषण में भी है। सर्वसमावेशी, जो सत्ता-अपने-रूप में है, का अस्तित्व हमारे लिए तभी है जब वह संप्रेषणीयता को वाणी, कथनीय या उच्चारणीय बन कर प्राप्त कर लेता है।

अत: सत्य को संप्रेषणीयता से अलग नहीं किया जा सकता है क्योंकि संप्रेषण से वियुक्त होकर यह अवास्तविकता में शिलीभूत हो जाता है। संप्रेषण की गति सत्य की रक्षा और खोज दोनों ही है।

सर्वसमावेशी जो हम हैं में संप्रेषण (आनुभविक अस्तित्व, चेतना जैसी है और आत्मा में संप्रेषण) के विभिन्न स्तरों पर प्रकाश डालते हुए यास्पर्स संप्रेषण के सिद्धान्त के महत्त्व को स्थापित करते हैं। वे व्यक्ति के सामाजिक जीवन को इसी के संदर्भ में समझाते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति अपने आप में, दूसरों से असंबद्ध होकर, मनुष्य नहीं बन सकता। वह दूसरों की स्वतंत्रता की उपेक्षा भी नहीं कर सकता है। व्यक्ति का सारतत्त्व उसकी स्वतंत्रता है, किन्तु व्यक्ति एवं मेरी स्वतंत्रता दूसरे की स्वतंत्रता का अपहरण नहीं करती है, वह उसे स्वीकार करती है : मैं चाहूँगा कि प्रत्येक वही बन सके जो मैं बनने का प्रयास करता हूँ। अथवा मैं चाहता हूँ कि दूसरा भी सच्चाई और गंभीरता के साथ अपने आपको प्राप्त कर ले। किंतु इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए विकास परात्पर के प्रति उन्मुक्तता है। आत्मा होना और सच्चा होना अन्य कुछ नहीं है वरन् संप्रेषण में परम रूप से रहना है।

स्पष्ट ही संप्रेषण एक संघर्ष है, किंतु यह एक प्रेममय संघर्ष है। यह उन प्राणियों के मध्य संघर्ष है जो अपने आपको संयुक्त मानते हैं तथा अपनी वास्तविकता की शर्त के अनुरूप अपनी भिन्नता रखते हैं एवं अपने आपको और एक-दूसरे को चुनौती देते हैं। प्यार एवं परम चेतना अपनी बहुलता में सदैव सम्भव है और यह सदैव उन व्यक्तियों द्वारा इच्छित है जो 'सत्ता-स्वयं में' के प्रति प्रबुद्ध हैं। वस्तुगत प्रामाणिकता से युक्त विचार विलीन हो सकते हैं किंतु वे व्यक्ति सदैव रहते हैं जिनके साथ मैं हूँ, जिनके साथ मेरा

संप्रेषण हो सकता है। ऐसों के साथ मेरी प्रामाणिक सत्ता दृढ़ रहती है। यह सोचना भ्रांतिपूर्ण है कि संप्रेषण केवल उन लोगों के साथ हो सकता है जो मेरे समकालीन हैं एवं जिनके मैं संपर्क में आता हूँ, जिनका मैं सशरीर सामना करता हूँ। इतिहास में भी मैं प्रामाणिक 'सत्ता-स्वयं में' की खोज सकता हूँ; उन आस्था, प्रेम और कल्पनाशील लोगों का स्पर्श पा सकता हूँ जो मुझे प्रेरित करते हैं, मुझसे कहते हैं कि मैं स्वयं में हो जाऊँ।

शून्य का सिद्धान्त

यास्पर्स शून्य के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। उनका कहना है कि जगत् एक गुह्य पाठ्य पुस्तक है जो जनता की भाषा में अनूदित नहीं हो सकती। यह केवल व्यक्तिगत अस्तित्व के लिए बोधगम्य है और प्रत्येक अपने लिए ही इसे समझ सकता है। वास्तव में, "मैं शून्यों के साथ रहता हूँ। मैं उन्हें समझता नहीं हूँ, किंतु उनमें डूबा रहता हूँ। उनका समस्त सत्य उस मूर्त सहजबोध पर निर्भर करता है जो उन्हें प्रत्येक बार ऐतिहासिक ढंग से भर देता है।" यास्पर्स का दर्शन सहजबोध और शून्य को अपनाते हुए प्रकृति के प्रांगण, उसके विशाल दृश्यपट तथा इतिहास का आलिंगन करता है। उसके लिए कुछ भी नगण्य या त्याज्य नहीं है। कोई भी विशिष्ट क्षण एवं अनुकूल क्षण परात्पर के सहजबोध को दे सकता है। किंतु दर्शन का भी अपना मूल्य है। सच्चा दर्शन चिंतन है, यह सुनना है; यह दार्शनिक का उसे सुनना है जिसे उसके विचार, संप्रेषण के मात्र प्रकारों के रूप में, छिपाते हैं किंतु जो इन प्रकारों के बाहर अपनी सीमा पर बोल सकता है तथा जिसे सत्ता के शून्य आलेख के रूप में सुना जा सकता है।[1] दर्शन उसके अवलोकन पर निर्भर है जो विचारों और चिंतन के परे अदृश्य हो जाता है एवं दर्शन सत्ता की शून्य लिपि को उसी की शून्य-लिपि के रूपों द्वारा पढ़ना है। ऐसे में प्रश्न उठता है—दर्शन की क्या उपयोगिता है, क्या मूल्य है? यास्पर्स स्पष्टतः यह स्वीकार करते हैं कि दर्शन परात्पर के सहजबोध को सुगम बनाने में सहायक हो सकता है। वह एक नई वस्तुनिष्ठता की व्यापक व्याख्या कर सकता है, वह वस्तुओं के उस विश्व की व्याख्या कर सकता है जो मानव-अनुभव के सामान्य सत्यों का निदर्शन करेगा। किंतु ऐसे कार्य को परम प्रामाणिकता से युक्त मानना गलत होगा, इसे केवल प्रयोगात्मक दृष्टि से अपनाना होगा। इसलिए जो कोई भी अपने सिद्धांत की सुस्पष्टता का दावा करता है वह भ्रम में है क्योंकि ऐसा कुछ नहीं हो सकता जो शून्य नहीं है। हम किसी के लिए भी निश्चित अर्थ का प्रयोग नहीं कर सकते, न कोई कुंजी है और न कोई नियमावली। मानव जाति का सामान्य अनुभव रहस्यमय जगत् का साक्षी है और इस प्रमाण के साक्षी दर्शन, धर्म तथा पौराणिक कथाएँ हैं। किंतु ये सत्य के विशिष्ट विनियोग ही हैं, सार्वभौम सत्य नहीं हैं; सत्य को प्रकट करने वाले शून्यों की भाँति सत्य नहीं हैं। दर्शन की दृष्टि से यह दर्शन का इतिहास है जो परात्पर को प्रकट

1. देखिए, ट्रुथ एण्ड सिम्बल।

करता है। यह इतिहास जीवित दार्शनिकों का विगत दार्शनिकों के साथ अनवरत संप्रेषण है। ये वे विचारक हैं जो अपना जीवन जीते हुए अच्छी तरह जीने के लिए चिंतन करते हैं। इसलिए दर्शनों के वे इतिहास जो मनुष्य के भाग्य की निर्णयात्मक निश्चित व्याख्या करते हैं, वास्तव में, अदार्शनिक हैं। और इतिहास का वह अध्ययन दर्शन है जो सफलता का सिद्धान्त नहीं देता है, वरन् अन्य संभावनाओं का अनुसंधान करते हुए भविष्य को उन्मुक्त रखता है तथा इतिहास में व्यक्तिगत अस्तित्व के उतार-चढ़ाव का अनुकरण करने और उसके रहस्य एवं प्रामाणिकता का स्पर्श पाने का प्रयास करता है। यह दर्शन इतिहास में उस शून्य को पा लेता है जो परात्पर को उद्‌घाटित करता है क्योंकि शून्य अपनी पूर्णता में व्यक्तिगत अस्तित्व ही है। जब मैं जगत्-जीवन में अपनी स्वतंत्रता को पाता हूँ, तब मैं उस सूत्र को पा लेता हूँ जिससे मैं अपने अंदर से ही जगत् में परात्परता का बोध प्राप्त कर लेता हूँ। किंतु इसे सफलता या आनंद नहीं कह सकते हैं। यह निरंतर संभावनाओं और निरंतर हताशा की स्थिति है। जगत् का अर्थ 'सत्ता-अपने-रूप में' है। इस अर्थ का स्पर्श मैं अपने यथार्थ कर्मों और जगत् में संप्रेषण की सीमा पर करता हूँ. उन हताशाओं पर करता हूँ जो मानव अनुसंधानों और प्रयासों की परिणति हैं। अनुभवाश्रित जगत् के इन अनुभवों में पीड़ा, धैर्य और शांति एक-दूसरे से मिले हुए हैं। परम हताशा शून्य है, उसकी व्याख्या नहीं हो सकती, वह शांति है।

आस्था

यास्पर्स सत्ता, परम एवं निरपेक्ष की खोज करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि न तो हम इसका निश्चित ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और न हम इसके बारे में निश्चित निर्णय ही दे सकते हैं। वे मानते हैं कि हम 'सत्ता-अपने-रूप में' में केवल विश्वास एवं आस्था रख सकते हैं, यही 'सत्ता-स्वयं में' के प्रयासों का संरक्षण और दिशा-निर्देशन करता है। विश्वास का स्पर्श एवं प्रमाण हम अपनी सफलताओं और असफलताओं में पाते हैं। दर्शन भी, अपने किसी भी रूप में, 'सत्ता-अपने-रूप में', के बारे में अपना अंतिम निर्णय नहीं दे सकता है। उसका काम दिशा-निर्देशन द्वारा व्यक्ति को स्नायविक हताशाओं से मुक्ति दिलाना है। यास्पर्स परम एवं परात्पर को सर्व-समावृत मानते हैं। वास्तव में इस शब्द का प्रयोग करके वह यह समझाते हैं कि परम हमारे दृष्टिकोणों, परिप्रेक्ष्यों, धारणाओं, धारणात्मक वर्गीकरणों, योजनाओं और रूपरेखाओं के परे है। हम इसकी निश्चित व्याख्या नहीं कर सकते। जब इसे सर्व-समावृत कहते हैं तब एक ऐसे शब्द का प्रयोग करते हैं जो मात्र यह इंगित करता है कि यह हमारी धारणाओं का आधार है, यद्यपि धारणाएँ इसे परिभाषित या व्याख्यायित नहीं कर सकतीं—"चिंतन और संप्रेषण में मौन ही परम है।" वे यह भी कहते हैं कि हम इस परात्पर को जगत् में प्राप्त नहीं कर सकते हैं यद्यपि यह जगत् से भिन्न नहीं है। इसका कारण यह है कि हमारा

अनुभव जगत् को विषय-विषयी के द्वैत के रूप में ही जान सकता है। जब तक हम केवल इस द्वैत के स्तर पर विचरण करते हैं, तब तक जगत् केवल प्रतीयमान है, यह हमारे मन की एक अवधारणा मात्र है। सत्ता को हमें इस द्वैत से परे समझना होगा।

यास्पर्स का सर्व-व्यापक या सर्व-समावृत अपने आपको विषय-विषयी की एकता में व्यक्त करता है। यह एक पर्याप्त विषय नहीं हो सकता, तथापि इसी के आधार पर मानस दार्शनिक चिंतन करता है, यह दार्शनिक आस्था का विषय है क्योंकि आस्था सर्व-समावृत की अनुभूति है। वे दर्शन और धर्म के संघर्ष की बात करते हैं तथा धार्मिक आस्था (ईश्वरविज्ञानीय आस्था) और दार्शनिक आस्था के अंतर को मानते हुए कहते हैं कि यह उसकी स्वीकृति की ओर ले जाती है जो न सिद्ध किया जा सकता है, न असिद्ध और न जिसका वर्णन ही संभव है। विषय-विषयी के द्वैत के परे जाने पर तथा प्रतीयमान जगत् का अतिक्रमण करने पर ही हम प्रामाणिक सत्ता को प्राप्त कर सकते हैं, अपनी स्वतंत्रता को पा सकते हैं। यहाँ पर पुनः यास्पर्स सत्ता के तीनों रूपों की बात करते हैं। हम इनमें से किसी एक को अन्यों से असम्बद्ध करके नहीं समझ सकते हैं। एक-दूसरे के साथ तनाव में ही ये सत्य हैं। ये एक-दूसरे को सीमित करते हैं तथा एक-दूसरे की व्याख्या भी करते हैं। यही जीवन और दर्शन का सूत्र है।

मूल्यांकन

यास्पर्स किसी ऐसे सार्वभौम सत्ताविज्ञान या सत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते हैं जो सभी के लिए सत्य हो।[1] वे यह मानते हैं कि दर्शन परात्पर का सार्वभौम रूप से प्रामाणिक वर्णन करने में असमर्थ है क्योंकि जो कुछ भी वास्तविक है, जो कुछ भी है, जो कुछ भी प्राप्त होता और चरितार्थ होता है, वह अपने आप में अपने से परे को इंगित करता है। यास्पर्स का दर्शन भाषा-विज्ञानीय, तार्किक,[2] ज्ञानमीमांसीय, नैतिक आदि अनेक समस्याओं को उठाता है, किन्तु फिर सभी समस्याएँ 'सर्व-समावृत' में समा जाती हैं। और यहाँ पर वे मूलतः अस्तित्ववादी हैं, तत्त्वमीमांसीय हैं क्योंकि वे मानते हैं कि आत्मा, विज्ञान एवं जगत् सभी का अतिक्रमण करना होगा। इस अतिक्रमण का अर्थ है अप्रामाणिक सत्ता का प्रामाणिक सत्ता को प्राप्त करना। यदि प्रामाणिक सत्ता को प्राप्त करना उद्देश्य है तो इसका क्या स्वरूप है? यास्पर्स का दर्शन अनेक शब्दों का प्रयोग करता है—ऐतिहासिकता, अस्तित्व, संभाव्य अस्तित्व, आनुभविक अस्तित्व, संप्रेषण, परात्पर, सर्व-समावृत, सत्ता-स्वयं-में, सत्ता-अपने-रूप में आदि। पर ये सब शब्द परिभाषित होने के विपरीत 'सर्व-समावृत' में विलीन हो जाते हैं। यह सर्व-समावृत सभी दृष्टिकोणों को स्वीकार कर लेता है और प्रत्येक का, उसकी प्रामाणिक सत्ता को प्राप्त करने के लिए, आह्वान करता है। यास्पर्स मानते हैं कि जगत्-जीवन में पीड़ा है, हताशा और संघर्ष है। किन्तु, उनके अनुसार ये अपने आप में अनिवार्य एवं पूर्ण नहीं हैं क्योंकि ये हमें परात्पर पर विश्वास रखने की संभावना से युक्त करते हैं। परात्पर पर विश्वास रखने की प्रेरणा हमें अपने अनुभव के अत्याज्य तथ्यों से मिलती है और हमारा समर्थन का संकल्प तथा शून्य इसकी व्याख्या करने में सहायता करते हैं।

यास्पर्स के दर्शन में सर्व-समावृत या सर्व-समावेशी के प्रकार अथवा दार्शनिक चिंतन की प्रणालियाँ व्यक्ति, विश्व और परात्पर के संबंध पर प्रकाश डालती हैं। यहाँ पर वे भारतीय अध्यात्म को अस्तित्ववादी अनुभव और अस्तित्ववादी भाषा में ढाल देते हैं। यह अस्तित्ववादी प्रणाली और दृष्टि की सीमा को स्पष्ट कर देता है। यास्पर्स का अस्तित्ववाद आध्यात्मिक अनुभूति को छूता हुआ उसे अछूता छोड़ देता है। उनका दर्शन आध्यात्मिक अनुभूति की उपज न होने के कारण परात्पर को उसकी व्यापकता, गहनता और सम्यक्ता की एकता में व्यक्त करने के विपरीत चिंतन और अनुभव के विभिन्न अंगों में बिखर गया है।

———

1. The Perennial Scope of Philosophy, p. 148-149। इसी आधार पर 'फिलोसफी' तथा 'पेरिनियल स्कोप ऑफ फिलोसफी' में वे समझाते हैं कि कोई भी ऐसा सत्ता का विज्ञान एवं सार्वभौम सत्ताविज्ञान नहीं हो सकता जो सभी के लिए अनिवार्य हो। वैसे वे स्वीकार करते हैं कि हम मानव स्थिति के उन रूपों का स्पष्टीकरण कर सकते हैं जो फिर-फिर घटित होते रहते हैं एवं उन पर प्रकाश डाल सकते हैं जो मानव अस्तित्व के सामान्य रूप हैं।

2. यास्पर्स का दार्शनिक तर्कशास्त्र (Philosophische LogiK) अपने 1100 पृष्ठों में तत्त्वदर्शन, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र एवं तर्कशास्त्र के सम्मिश्रण को प्रस्तुत करता है। इस कारण तर्कशास्त्र की दृष्टि से यह असफल ग्रंथ है। किन्तु साथ ही यह स्वीकार करना होगा कि उन्होंने अस्तित्व के आत्मनिष्ठ सिद्धांत के साथ तर्कशास्त्र को युक्त करके अस्तित्ववादी तर्कशास्त्र की नींव डालने का अभिनव प्रयास किया है तथा, साथ ही यह यास्पर्स के दार्शनिक विकास पर प्रकाश डालता है और बतलाता है कि कैसे असत्य से सत्य की ओर जा सकते हैं।

मार्सल

जीवन से प्रभावित दर्शन

मार्सल [1] का आस्थावादी अस्तित्ववाद उनके जीवन की घटनाओं से अछूता नहीं है। किर्कगार्ड की भाँति वे भी व्यक्तिगत विचारक हैं क्योंकि उनका दर्शन उनके आध्यात्मिक जीवन एवं विकास की प्रतिच्छवि है। मार्सल के पिता पहले स्टॉकहोम में फ्रांस के राजदूत थे और बाद में राष्ट्रीय संग्रहालयों के संचालक। वे कैथोलिक अज्ञेयवादी थे। मार्सल की माँ प्रसन्न स्वभाव की आकर्षक महिला थीं। जब मार्सल चार वर्ष के थे, तब उनकी माँ का देहांत हो गया। कालांतर में उनके पिता ने मार्सल की मौसी से विवाह कर लिया। मार्सल अपनी मौसी के प्रोटेस्टेन्ट धर्म एवं उनके कठोर अनुशासन-प्रिय धार्मिक स्वभाव को स्वीकार नहीं कर पाए और न वे जीवन-पर्यन्त अपनी माँ को भूल पाए। माँ के उत्फुल्ल व्यक्तित्व की स्मृति और विमाता के कठोर अनुशासन ने उनके जीवन में सदैव एक संघर्ष उत्पन्न किया। वे स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहते हैं : दृश्य और अदृश्य के मध्य प्रच्छन्न ध्रुवीयता ने मेरे जीवन और विचारों एवं कृतित्व को सर्वाधिक प्रभावित किया है। मार्सल के जीवन को, वास्तव में, तीन तथ्यों ने समांतर में आच्छादित किया। एक/ एकमात्र संतान होने के कारण उन्हें अत्यधिक लाड़-प्यार मिला; दो/ स्कूल की निर्वैयक्तिक, अमूर्त, अमानवीय तथा विषय-निष्ठ शिक्षण-पद्धति ने उन्हें त्रस्त और उद्विग्न किया; तथा, तीन/ माँ की ममतापूर्ण आकर्षक छाया ने उन्हें सदैव अभिभूत रखा। इन तथ्यों की विसंगति के कारण उनका जीवन आंतरिक संघर्ष और विषमताओं से युक्त हो गया।[2]

---

1. Gabriel Marcel (1889) फ्रांसीसी दार्शनिक—महत्वपूर्ण कृतियाँ—
The Mystery of Being. Two Volumes; Faith and Reality, Metaphysical Journal, Men Against Humanity, Being and Having, The Philosophy of Existence.

2. अपने ऐसे अनुभवों के आधार पर ही उन्होंने कहा कि उस मानस को तात्विक कह सकते हैं जिसे वास्तविकता में अपनी स्थिति मूलतः अस्वीकार्य लगती है। समस्या यह है कि स्थिति को ठीक करें या तनाव को कम करें। तत्त्वदर्शन यह ठीक करना (redressement) या तनाव को कम करना (de'tente) ही है। यह दोनों धारणाएँ मार्सल को कैथोलिक धर्म से मिली हैं।

मार्सल के नाटकों और धर्म, अनुभव और तत्त्वदर्शन का आधार उनके जीवन के यही तथ्य हैं।[1] इसके साथ ही दो और घटनाएँ उनके जीवन एवं दर्शन से युक्त हो गईं। उन्तालीस वर्ष की आयु एवं सन् 1929 में उन्होंने कैथोलिक धर्म (रोमन चर्च) स्वीकार कर लिया और इसका उनके तत्त्वदर्शन पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। शारीरिक अयोग्यता के कारण उन्हें प्रथम विश्वयुद्ध में सेना की सक्रिय नौकरी तो नहीं मिल पाई, पर रेडक्रास में लापता लोगों को ढूँढ़ने का काम मिल गया। इस काम ने उन्हें सामूहिक जीवन को समझने का अवसर दिया अथवा उन्हें यह समझने का अवसर दिया कि मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष में महान् अंतर है। यह बोध उनके दर्शन में सर्वत्र वर्तमान है।

दर्शन का स्वरूप

मार्सल की प्रारंभिक कृतियाँ कांटोत्तर दर्शन से प्रभावित हैं। हीगल के परम प्रत्ययवाद, ब्रेडले और रायेस के आदर्शवाद तथा विशेष रूप से शैलिंग के परात्पर आदर्शवाद[2] ने उन्हें पहले बहुत प्रभावित किया। हीगल के लिए उनका कहना है—उन्होंने मुझे अत्यधिक आकर्षित किया, और साथ ही, एक गहन अविश्वास को भी मेरे अंदर जन्म दे दिया। हीगल और स्पिनोजा दोनों के ही दर्शन में उन्हें मूर्त व्यक्ति के लिए स्थान नहीं दीखा—उन्हें लगा व्यक्ति की वास्तविकता और नियति परम में खो गई है। किन्तु कांटोत्तर दर्शन के प्रति भी शीघ्र ही उनका आकर्षण विलीन हो गया और वे अस्तित्ववाद की ओर झुक गए। उनका अस्तित्ववाद ईसाई एवं कैथोलिक अस्तित्ववाद का रंग ग्रहण करता है, पर स्वयं वे अपने अस्तित्ववाद को ईसाई अस्तित्ववाद कहकर सीमाबद्ध नहीं करना चाहते हैं। प्रारंभ में यद्यपि मार्सल ने अपने को अस्तित्ववादी कहा, पर बाद में उन्होंने इस तथ्य का भी निराकरण कर दिया। अब वे 'अस्तित्ववाद' शब्द का प्रयोग अपनी कृतियों के लिए नहीं करते हैं। उनका दार्शनिक विकास आधुनिक दर्शन की आत्मपरकवादी तथा आदर्शवादी धारणाओं के प्रति विद्रोह को व्यक्त करता है।[2] वे मानते हैं कि उनका अपना विकास यथार्थवादी दिशा की ओर हुआ है अथवा

---

1. बचपन से ही मार्सल को यात्रा करने, इधर-उधर घूमने, के अनेक अवसर मिले। इसका भी उनके चरित्र के निर्माण और विकास में प्रभाव पड़ा।

2. दर्शन अथवा दार्शनिक अध्ययन की ओर झुकने के साथ ही उन्होंने पहले जर्मन, इंगलिश और अमरिकी आदर्शवाद का अध्ययन किया। फिश्टे उन्हें प्रिय नहीं लगा क्योंकि उसकी नैतिक उपदेशात्मक प्रवृत्ति को उनका मन स्वीकार नहीं कर पाया। फिश्टे के विरुद्ध उन्हें यह भी लगा कि वह परम और मूर्त अहं के संबंध सूत्र को नहीं समझा पाया है। देखिये The Philosophy of Existence, p. 77-78, Trans. Manya Harari (The Harvill Press 1954)

उनका विकास उस धारणा के परित्याग को लक्षित करता है जो यह मानती है कि मन निर्माणात्मक या सर्जनात्मक शक्ति से युक्त है। वे मानते हैं कि दर्शन का कार्य वर्णनात्मक या 'फिनोमिनोलौजिकल' है। मार्सल के अनुसार दर्शन एक अनुभवात्मक अनुशासन है और मूर्त तथ्यों के प्रति ही इसकी मूल प्रतिबद्धता है अथवा दर्शन का संबंध मानव के आंतरिक अनुभव से है। इस कारण यह पूर्णतः तर्काश्रित नहीं है। ईश्वर को भी हम तर्क द्वारा नहीं जान सकते हैं। उसके लिए अस्तित्ववादी अनुभव आवश्यक है। इस संदर्भ में वे विज्ञान की सीमा पर प्रकाश डालते हैं। अस्तित्ववाद का संबंध मानव के आंतरिक जीवन—आंतरिक अनुभव—से है। उसके चिंतन का विषय मानव की आंतरिकता है। विज्ञान इस आंतरिकता के प्रति उदासीन है क्योंकि वह मानव का अध्ययन बाह्य विषय-वस्तु की भाँति करता है।

बुद्धिवाद और अनुभववाद

अनुभववाद और बुद्धिवाद को मार्सल उनके प्रचलित अर्थों में स्वीकार करते हुए उनका रूपांतर कर देते हैं। अपने दर्शन में वे 'अनुभव' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में करते हैं। इसके अंतर्गत वे सामान्य अनुभव, प्रत्यक्ष, साधारण बुद्धि, उच्चस्तरीय बुद्धि, अपरोक्षानुभूति को ले लेते हैं। मार्सल मानते हैं कि प्रत्यक्ष और साधारण बुद्धि के स्तर का अनुभव निम्न स्तर का अनुभव है। जब हम इसके स्तर से ऊपर उठकर उच्चस्तरीय बुद्धि के स्तर पर पहुँच जाते हैं और उसके माध्यम से जगत् तथा जीवन को समझने का प्रयास करते हैं, तब हम वैज्ञानिक ज्ञान की कोटि को प्राप्त कर लेते हैं। वैज्ञानिक ज्ञान विषयनिष्ठ ज्ञान है। किन्तु अस्तित्ववादी दृष्टि विषयनिष्ठ दृष्टि नहीं है। वह विज्ञान की भाँति मानव को एक विषय के रूप में स्वीकार नहीं कर सकती। वह मानव एवं मानव-अस्तित्व को महत्त्व देती है। मानव-अस्तित्व का ज्ञान न तो सामान्य बुद्धि प्रदान कर सकती है और न तर्कबुद्धि एवं उच्चस्तरीय बुद्धि ही। इसके लिए अस्तित्ववादी अनुभूति, सर्वोच्च अनुभव की आवश्यकता है। अनुभववादियों के अनुसार अनुभव प्रतिदिन के जीवन एवं इंद्रिय-विषयों के अनुभव को लक्षित करता है। मार्सल अनुभव की ऐसी व्याख्या—अनुभववादी व्याख्या—को स्वीकार नहीं करते हैं। ऐसे अनुभव को वे संदिग्ध और अशुद्ध मानते हैं और कहते हैं कि यह चेतना का, बिना किसी मुक्ति की आशा के, शोषण करता है। वे समझाते हैं कि अनुभवात्मक विषयी में केन्द्रित होने के कारण अनुभव संवेदनाओं, संकल्पों, भावनाओं की असंबद्ध अव्यवस्था नहीं है। इसलिए इसे भाववादियों के दृष्टिगोचर और स्पर्शग्राह्य क्षेत्र तक सीमित नहीं मान सकते हैं। वे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष को स्वीकार करते हैं। अतः यदि किसी वस्तु का हम प्रत्यक्ष नहीं कर पाते है तो इसके आधार पर यह नहीं कह सकते कि वह वस्तु

नहीं है।[1] संचेतना[2] के विभिन्न स्तरों को मानने के कारण वे अनुभव की गहनता को स्वीकार करते हैं। अनुभव किसी अमूर्त तत्त्व एवं चेतना का अनुभव नहीं है, वरन् इस जगत् के अंदर उस मानव-सत्ता का है जो इसे अपने समस्यात्मक और रहस्यपूर्ण स्वभाव में अनुभव करता है तथा अपने चिंतन के विषय के रूप में इस पर ध्यान केन्द्रित करता है। चिंतन हमारे अनुभव को बाहर से प्रकाशित करने का उतना कार्य नहीं करता है जितना कि उसमें अंदर से प्रवेश करने का करता है। हमारा अनुभव प्रथम तो विषयों का नहीं है, विषयी का है; व्यक्तियों के जगत् में व्यक्तियों का अनुभव है जो तनावों, नाटकीय संघर्षों और अवसर असमाधेय संघर्षों से युक्त है। यह बाह्य निरीक्षण-परीक्षण के विपरीत उनके जीवन, सुख-दुख में भागी होने पर निर्भर है। द्वितीय, यह विषयों का अनुभव है और तृतीय, यह अनुभवातीत का अनुभव है। अतः मार्सल एक नए प्रकार के अनुभव की बात करते हैं। वे अनुभव के अनुभववादी अर्थ को स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि उनकी स्थापना है—हम बाह्य प्रेरक के प्रति प्रतिक्रिया करते हैं और इसलिए हम इस संभावना का निराकरण नहीं कर सकते कि हम उसके प्रति भी प्रतिक्रिया करते हैं जो हमारे इंद्रिय-प्रत्यक्ष के क्षेत्र का अतिक्रमण करता है।

अनुभव का रूपांतर करने के साथ ही वे बुद्धि का भी रूपांतर कर देते हैं। उनके सिद्धांत में बुद्धि अमूर्त रूपात्मक, निगमनात्मक और विधिवत् नहीं है। वह मूर्त, अंतर्ज्ञानी, आगमनात्मक और अव्यवस्थित है। यह चिंतन (रिफ्लेक्शन)[3] हो जाती है। किन्तु, इसके इस स्वरूप को समझने के लिए 'रिफ्लेक्शन' के अंग्रेजी और फ्रेंच अर्थों को समझना होगा। लॉक ने अपने दर्शन में संवेदन और चिंतन[4] के अन्तर को समझाते हुए चिन्तन को परिभाषाबद्ध किया। इसे वे "मानस की आंतरिक क्रियाओं के लिए प्रयुक्त निरीक्षण" कहते हैं, किन्तु फ्रेंच में इसका अर्थ है, "विचार या चेतना[5] का अपने में ही पीछे मुड़ना और अपने सहज कर्मों या उनके समुदाय पर संकेन्द्रित होना।" इसका यह भी अर्थ होता है, "निर्णय का आलोचनात्मक निलंबन ताकि किसी विशिष्ट तथ्य के कारणों अथवा तर्कों का विश्लेषण कर सकें।" अपने दोनों ही अर्थों में यह मनोविज्ञान का

1, बर्कले का कथन Esse Est Percipi (दृश्यता ही सत्ता है) सत्य नहीं माना जा सकता है।

2. Awareness

3. Re'flection

4. Reflectio'n

5. Pensee

आधार माना जाता है, यह एक प्रकार का अंतर्निरीक्षण है जो कि विश्लेषण से युक्त है।[1] मार्सल अपनी अस्तित्ववादी प्रणाली के प्रथम चरण के लिए इस मनोवैज्ञानिक चिन्तन का प्रयोग करते हैं। इसे वह प्राथमिक चिंतन कहते हैं। यह विश्लेषणात्मक है और अनुभव की एकता को विघटित कर देता है। इसके अतिरिक्त वे द्वितीय चिंतन को भी मानते हैं, यह संश्लेषणात्मक और पुनर्प्राप्तिकर होता है तथा अनुभव की खोई हुई एकता को एक उच्च स्तर पर पुनः प्राप्त कर लेता है। स्पष्ट ही चिंतन, मार्सल के अनुसार, अपने आपको विभिन्न स्तरों पर व्यक्त करता है। मार्सल चिंतन को पुनः पुष्ट एवं पुनर्जीवित करने अथवा उसे जीवन के क्रियाकलापों में परिवर्तित करने की बात करते हैं, मानो जीवन एक चिंतनशील क्रम हो। "उन सभी स्थितियों जिनमें मैं टोका गया हूँ और जहाँ मेरे अनुभव की अविच्छिन्नता में एक क्रमभंग आ गया है, द्वितीय चिंतन प्रवेश कर लेता है। यह मुझे मेरी वर्तमान स्थिति से परे जाने तथा अपने से बाहर फैलने को कहता है। चिंतन अपने अग्रदर्शी रूप में अनुसंधान है, सृजनशील दार्शनिक अपनी जिज्ञासा, अपनी भावात्मक प्रेरणा से प्रेरित होता है। अतः दर्शन अस्तित्व के रहस्यों के लिए विप्रतिपेधपूर्वक 'अनुसंधान' हो जाता है। इसलिए दर्शन का सबसे अधिक मूल्यवान् कार्य यही है कि वह विशिष्ट मानव-समस्याओं, अकस्मात् चुने हुए संघर्षों पर प्रकाश डाले।

बुद्धि के एक और रूप पर मार्सल प्रकाश डालते हैं। बुद्धि यहाँ पर विचार विचार[2] के विपरीत विचारशील विचार[3] बन जाती है। अथवा उनका कहना है कि यह चिंतन का भ्रांतिपूर्ण परिणाम है कि विचार विचार की स्थिति में पहुँच जाए, क्योंकि इस स्थिति में मानस सत्ता और अस्तित्व के अपने संबंध से वियुक्त हो जाता है। किन्तु वे भूल जाते हैं कि विचारशील विचार अन्य कुछ नहीं है, वरन् विचार विचार का मार्ग है क्योंकि कोई भी सदैव गति में नहीं रह सकता। स्वयं मार्सल विचार को इस स्तर पर नहीं रख पाए, उन्हें निरंतर इसका अतिक्रमण करना पड़ा। उन्हें 'विचार विचार' को एक साथ ही त्यागना तथा स्वीकार करना पड़ा। यह विरोध बुद्धि के मूर्त विचार में रूपांतरित होने पर स्पष्ट हो जाता है। किंतु यह मूर्त विचार क्या है? एक अनुभव? एक सिद्धांत? एक संभाव्य तथ्य? एक प्रारंभिक बिन्दु? अथवा अन्य क्या? मार्सल इसके बारे में स्वयं स्पष्ट नहीं हैं। मूर्तता एवं देहधारणा की अवधारणा उनके विचार को शासित करती है, वे अनुभव करते हैं कि मन देह से युक्त है एवं मन देह से अलग होकर

---

1. देखिए F. H. Heinemann: Existentialism and Modern Predicament, p. 138-139 (London, Adam and Charles Black, 1954)

2. thought thought—pense'e pensee

3. thinking thought—pensee pensate

अपनी वास्तविकता को जानने की शक्ति को खो देता है। इसलिए वे देह को 'परम मध्यस्थ' मानते हैं और मानते हैं कि देह वह केन्द्रीय मापदण्ड है जो अस्तित्व के सभी निर्णयों की कसौटी है जिन्हें मैं देता हूँ।[1]

अलगाव की स्थितिः रहस्य और समस्या

अपने आस्थावाद के कारण मार्सल किर्कगार्ड और यास्पर्स के निकट हैं। सार्त्र, हाइडेगर और नीत्शे की तुलना में इन तीनों का अस्तित्ववाद ईश्वरवादी है। मार्सल अस्तित्ववादियों के साथ यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य और उसके जीवन एवं जगत् के बीच अलगाव की स्थिति उत्पन्न हो गई है। आज का व्यक्ति अपने सम्मुख तथा दूसरों के सम्मुख क्रियाओं—प्राणिक और सामाजिक—का ढेर मात्र है? मानव क्रियाओं एवं व्यापारों पर केन्द्रित जीवन हताशा का जीवन है, क्योंकि यह जगत् तात्त्विक दृष्टि से खोखला एवं रिक्त है; यह समस्याओं से त्रस्त है, इसमें रहस्य के लिए कोई स्थान नहीं है। मनुष्य का जीवन गणित के अंकों की भाँति जीवन-शून्य हो गया है। वह स्वतंत्र रूप से कुछ नहीं कर पाता है। शासन का बढ़ता हुआ दबाव, समाजीकरण का आधिक्य तथा औद्योगिक-वैज्ञानिक सभ्यता ने उसके व्यक्तिगत जीवन को विनष्ट कर दिया है। मार्सल इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आधुनिक व्यक्ति वह है जिसमें सत्ताविज्ञानीय बोध का अभाव मिलता है। वह सत्ताविज्ञान के प्रति सचेत नहीं है, इसलिए उसे सत्ताविज्ञान एवं सत्ता का बोध चिन्तायुक्त नहीं करता है। उनका विश्वास है कि यदि कभी उचित मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली का प्रयोग किया गया तो पता चल जायेगा कि सत्ता के बोध के दमन का व्यक्ति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है—वह स्वतंत्रचेता नहीं रह गया है, उसकी स्वतंत्र इच्छा अपनी क्षमता खो बैठी है।

मनुष्य की वर्तमान स्थिति एवं अलगाव की स्थिति का समाधान विज्ञान नहीं कर पाया है और न वह कर ही सकता है क्योंकि यह समाधान तब तक संभव नहीं है जब तक कि हम मनुष्य के अस्तित्व को उसकी समग्रता में नहीं समझ लेते हैं। इसलिए रहस्य[2] और समस्या[3] के अंतर को समझना आवश्यक है। उनके अनुसार समस्या

---

1. "मैं यह स्वीकार नहीं करता हूँ कि मूर्तता एक वास्तविक समस्या को इंगित नहीं करती है। किंतु दो समस्याएँ हैं—एक तात्त्विक और एक ज्ञानमीमांसीय। रूढ़िगत अर्थों में एक को देह-मन की समस्या कह सकते हैं और दूसरे को जड़-चेतन की समस्या। अतः दोनों ही संबंधित हैं, किंतु किसी भी स्थिति में एक नहीं हैं।"
The Mystery of Being, Vol. I (Harvill Press, 1950), p. 140-141 तथा F. H. Heinemann. Existentialism And Modern Predicament, pp. 136-140,

2. Mystery

3. Problem

का संबंध उन वस्तुओं से है जिन्हें हम वस्तुगत स्तर पर समझ सकते हैं तथा जिनका बौद्धिक विश्लेषण, अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा हम बौद्धिक समाधान प्रस्तुत कर सकते हैं। रहस्य ऐसे समाधान को स्वीकार नहीं करता है क्योंकि यह अपने अंदर विषयी का भी समावेश कर लेता है। अथवा रहस्य के अन्दर विषयी आ जाता है, इसलिए रहस्य को पूर्णतः वस्तुगत दृष्टि से नहीं समझा जा सकता है। अस्तित्व का प्रश्न ऐसा ही रहस्य है। यह वह प्रश्न है जो मुझे भी सम्मिलित करता है, मैं जिसे प्रश्न का उत्तर देना है। अतः जिस अस्तित्व से मैं युक्त हूँ, वह मुझसे असम्बद्ध नहीं हो सकता और इस कारण मेरे चिंतन का विषय नहीं हो सकता। सत्ताविज्ञान संबंधी वास्तविकता एक रहस्य है, समस्या नहीं है। इसको बुद्धि द्वारा नहीं सुलझा सकते हैं, यह प्रत्यक्ष स्पर्श या सहयोग से प्रकट एवं प्रकाशित हो सकता है।

सत्ताविज्ञानीय आवश्यकता का स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता। इस आवश्यकता को प्रतिपादित करने के लिए अनेक प्रश्न करने होंगे : क्या सत्ता की भाँति कोई वस्तु है? यह क्या है? आदि। इसके साथ ही मैं तत्काल जानना चाहता हूँ : मैं, जो सत्ता के बारे में इन प्रश्नों को कर रहा हूँ, स्वयं अपने अस्तित्व के बारे में कैसे निश्चित हो सकता हूँ? फिर भी मुझे, मैं जो इस समस्या का प्रतिपादन करता हूँ, इसके बाहर रहना चाहिए, इसके सम्मुख या इससे परे रहना चाहिए। किंतु ऐसा नहीं है। जितना ही मैं सोचता हूँ, उतना ही मैं देखता हूँ कि यह समस्या उसका सामना करती है, उस मंच पर आक्रमण करती है जिससे इसे सिद्धांत में अलग रखा गया है। अपने परम्परागत रूप में आदर्शवाद ने कल्पना के माध्यम से ही सत्ता के सीमांत पर उस चेतना को रखने का प्रयास किया है जो इसे स्वीकार या अस्वीकार करती है। तब मैं अनिवार्य रूप से पूछता हूं : मैं कौन हूँ—मैं जो सत्ता के बारे में प्रश्न करता हूँ? मैं इस अन्वेषण के योग्य कैसे हूँ? यदि मेरा अस्तित्व नहीं है, तो मैं इसमें सफलता कैसे प्राप्त कर सकता हूँ? और यदि मेरा अस्तित्व है, तो मैं इस बारे में निश्चित कैसे हो सकता हूँ?

यहाँ पर मार्सल डेकार्ट के आलोचक हैं। उनके अनुसार डेकार्ट के स्तर पर सोचना, हमारी सहायता नहीं कर सकता है। डेकार्ट जिस निश्चयात्मकता को देता है उसका संबंध उस ज्ञानमीमांसीय विषयी से है जो वस्तुगत संज्ञान[1] का साधन है। हमें 'मैं कौन हूँ' को संपूर्ण सत्ताविज्ञानीय समस्या से भिन्न करना नहीं चाहिए।[2] सत्ता-

1. Objective cognition.

2. भिन्न करने का दुष्परिणाम स्पष्ट है। या तो 'मैं क्या हूँ' को हम संज्ञान का विषयी (Subject of cognition) मान लेते हैं और यह डेकार्ट के 'कोजिटो' का क्षेत्र है, अथवा दूसरे छोर पर तात्त्विक आवश्यकता को प्राणिक आवश्यकता से युक्त करके यह मान लेते हैं कि इससे तत्त्वदार्शनिक का कोई संबंध नहीं है।

विज्ञानीय समस्या को उठाना सत्ता की संपूर्णता[1] के प्रश्न को उठाना है। इसलिए 'मैं कौन हूँ' को सत्ताविज्ञानीय समस्या से भिन्न करके हम नहीं समझ सकते हैं। और जब हम इन दोनों को साथ लेते हैं, तब ये एक-दूसरे को समस्या नहीं रहने देते हैं। सत्ता की एकता के अंदर हम कुछ भेद मानते हैं—हम मानते हैं कि वह व्यक्ति जो सोचता है और जो अपने बारे में सोचता है में भेद है। किन्तु जब हम इन भेदों के परे जाते हैं, तब सत्ताविज्ञानीय समस्या उठती है और इसका संबंध उस सत्ता से है जिसे हम उसकी सर्व-समावेशी एकता में देखते हैं।

समस्या और रहस्य पर विवेचन करते हुए वे कहते हैं कि समस्या मेरे सम्मुख है। मैं उसका सामना करता हूँ, वह मेरे मार्ग में बाधक है और इस अर्थ में वह मुझसे भिन्न एवं असंगत है। उदाहरणार्थ, मेरा यह जानने का प्रयास कि मंगल ग्रह में प्राणी हैं या नहीं, एक समस्या है। मैं समस्या का विश्लेषण कर सकता हूँ, तटस्थ भाव से उसे समझने का प्रयास कर सकता हूँ क्योंकि वह मेरे बाहर है। रहस्य मेरे भीतर है, मैं उसमें निमग्न हूँ। यदि मैं समस्या से रहस्य में पहुँच जाऊं तो अलगाव की स्थिति पार कर लूं। किन्तु ऐसा तब हो सकता है, जब मैं 'सत्ता' में पहुंच जाऊं और यह अधि-समस्यात्मक (मेटा-प्रोब्लिमेटिकल) तथा रहस्य है। मार्सल के लिए यह मूलगत तथ्य है कि सत्ता रहस्य है, समस्या नहीं है। रहस्य वह अनुभव है जो असंदिग्ध है[2], यह सिद्धांततः सार्वभौम ज्ञाता (univeral subject) के सम्मुख एक आम विषय के रूप में परिणत नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि इसमें विषय-विषयी अभिन्न रहते हैं, वे परस्पर आवेष्टित तत्त्व हैं। वे सत्ताविज्ञानीय रहस्य को समझाने के लिए पाप, मृत्यु आदि का उदाहरण भी देते हैं। अशुभ की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि अशुभ की व्याख्या करना या उसे देखना और अशुभ को भोगना भिन्न बात है। अशुभ की व्याख्या करने पर अशुभ नहीं रहता है, क्योंकि मैं यह प्रश्न करने के साथ ही कि अशुभ

1. सत्ता को उसकी समग्रता में देखना कार्टिशियन द्वैतवाद का निराकरण करना भी है।

2. यदि यह प्रश्न करें कि क्या रहस्य के बारे में असंदिग्ध वक्तव्य दे सकते हैं तो मार्सल ऐसे कथन की गंभीरता का यह कहकर समाधान कर देते हैं : "To think, or rather to assert, the meta-problematical is to assert it as indubitably real, as something of which I cannot doubt without falling into contradiction. We are in a sphere where it is no longer possible to dissociate the idea itself from the certainty or degree of certainty which pertains to it."—The Philosophy of Existence, p. 11-12.

क्या है, प्रश्न के उत्तर का ही अंत कर देता हूँ। किन्तु अशुभ से मैं असम्बद्ध नहीं होता हूँ, वह मुझे प्रभावित एवं आवेष्टित करता है। व्यक्तियों की अंतर्तम सत्ता, आत्मा या ईश्वर के बारे में मार्सल का कहना है कि हम उसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते हैं क्योंकि वह स्वयं प्रमाणों का आधार है।

जब मार्सल द्वारा प्रस्तुत रहस्य और समस्या की विशद व्याख्या को स्वीकार करने पर हम यह जानना चाहते हैं कि क्या इस भेद के आधार पर उन्होंने किसी नवीन तत्त्वदर्शन की नींव डाली है तो हम पुनः रहस्य और समस्या के क्षेत्र में विचरण करने लगते हैं। मार्सल के अनुसार इन दोनों का भेद परम नहीं है, सापेक्ष है। वे मानते हैं कि कोई ऐसा रहस्य नहीं है जिसे हम समस्या में नहीं बदल सकते हैं। तात्त्विक समस्याएं रहस्यमय हो सकती हैं, किन्तु फिर भी वे समस्याएँ तो रहती ही हैं। वैज्ञानिक समस्याओं की तुलना में तात्त्विक समस्याएं प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति और असीम विश्लेषण स्वीकार नहीं करती हैं। वे रहस्य लगती हैं, क्योंकि वे अपरिमित और ससीम को इंगित करती हैं। यहाँ पर मार्सल आस्था एवं निष्ठा के क्षेत्र में विचरण करते हैं। उनका कहना है कि आस्था मानस को एक जीवंत और सक्रिय वास्तविकता प्रदान करती है। वह सत्ता का एक प्रकार है और दिव्य में भागीदार होने की क्रिया है। सच यह है कि मार्सल के अस्तित्ववाद के लिए सर्वोच्च सत्ताविज्ञानीय रहस्य आत्मा का परात्पर सत्ता एवं भगवान से मिलन है।[1]

व्यक्ति : देह और आत्मा : अस्तित्व और स्वामित्व

मार्सल मानते हैं कि आधुनिक व्यक्ति संकटापन्न है—उसका जीवन युद्ध, मृत्यु, आशंका और भय से त्रस्त है। अत्यधिक समाजीकरण, औद्योगीकरण तथा प्राविधीकरण ने उसके व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चेतना को हताशा से युक्त कर दिया है। किंतु यह त्रस्तता या हताशा मनुष्य की परमगति नहीं है। वे व्यक्ति-स्वातंत्र्य के पोषक हैं तथा मानते हैं कि व्यक्ति अंतर्मुखी चिंतन द्वारा अपने अस्तित्व को प्राप्त कर सकता है। वह अपनी वास्तविकता का अनुसंधान करने के क्रम में स्थूल बन्धनों का अतिक्रमण कर सकता है एवं परात्पर को प्राप्त कर सकता है। उनका यह आस्थावाद एवं आशावाद व्यक्ति को सांसारिक-सामाजिक उत्तरदायित्व से विरत नहीं करता है, वरन् उसके प्रति प्रबुद्ध करता है। अपनी पुस्तक 'बीइंग और हैविंग में उन्होंने यह समझाया है कि हम सत्ता को एक विषय की भाँति नहीं जान सकते हैं।

1. यास्पर्स की भाँति मार्सल भी मानते हैं कि मनुष्य मात्र इस अर्थ में आत्म-अतिक्रमण करने वाला विषयी नहीं है कि वह अन्य मानव प्राणियों के साथ अपना व्यक्तिगत संपर्क स्थापित कर सकता है, वरन् इस अर्थ में भी कि वह परात्पर एवं ईश्वर के साथ भी अपने संबंध को परिपुष्ट कर सकता है।

उनके अनुसार मनुष्य सर्वप्रथम अपने आपको जगत् की मूर्त परिस्थिति में स्थित पाता है[1], क्योंकि अपने अस्तित्व के बारे में मेरी संविति पहले ज्ञाता और ज्ञेय, मैं तथा मेरी देह की भिन्नता की नहीं होती है, वरन् मेरे शरीर का जगत् में अस्तित्व ही मुझे "मैं" या ज्ञाता बनाता है। जगत्-जीवन में मेरे दैहिक अस्तित्व का प्राथमिक भाग लेना जिसमें कि मुझे अपने अस्तित्व की भिन्नता के बोध के पूर्व विश्व-सत्ता का एक धूमिल ज्ञान रहता है, मेरी उस प्रथम चिंतनशील चेतना के लिए खो जाता है जो दर्शन के ज्ञान को निश्चित करती है। किंतु दुबारा विचारपूर्वक प्रयत्न करने पर इसे पुनः प्रतिष्ठित किया जा सकता है क्योंकि द्वितीय एवं पुनरावर्तित चिंतनशील चेतना में वह समस्या निरस्त हो जाती है जो विचार को उसके विषय से अलग करने पर उत्पन्न होती है अथवा जो यह समझती है कि जानने वाले विषयी की स्वतंत्र स्थिति है। विषय-विषयी एक-दूसरे में अंतर्व्याप्त हैं, उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। अतः दर्शन का मुख्य कार्य यह है कि वह अपने को उन भ्रांतिपूर्ण समस्याओं से मुक्त करें जो प्रथम चिंतन से उत्पन्न होती हैं तथा साथ ही उसे चिंतन की उस द्वितीय गति को स्थापित करना है जो मूलभूत अनिवार्य अनुभवों को पुनः जीवित करती है।

सर्वप्रथम वह अनुभव है जिसे मैं देह में अवतरित होने का अपना अनुभव कहता हूँ तथा जो जगत् की सभी वस्तुओं के साथ निरंतर हैं। किन्तु तब देह और आत्मा का प्रश्न उठता है—देह के साथ मेरा क्या संबंध है? कार्टिशियन सिद्धांत ने दोनों के द्वैत को स्वीकार किया है और देह को आत्मा का उपकरण माना है। यह सिद्धांत उस सत्ताविज्ञानीय परिस्थिति को नहीं समझ पाया है जिसमें व्यक्ति जगत् और अपनी देह का सामना करता है। यह कहने के विपरीत कि 'मेरे पास देह है' अथवा 'मैं अपनी देह का उपयोग करता हूँ' हमें यह कहना चाहिए कि 'मैं अपनी देह हूँ' अथवा 'मैं अपनी देह द्वारा उस सत्ता का भागीदार बनता हूँ जो मेरे चारों ओर का व्यापक जगत् है।' मार्सल कहते हैं कि देह-मन के अस्तित्व की एकता एक ऐसा रहस्य है[2] जिसे स्वीकार करना ही होगा अथवा यह एक समस्या नहीं है जिसका बौद्धिक समाधान संभव है। वैसे, समस्या और रहस्य के मध्य कोई निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती है क्योंकि जब हम रहस्य पर चिंतन करते हैं तब उसे समस्या से निम्न स्तर पर ले आते हैं। उदाहरणार्थ, अशुभ

1. "मनुष्य का सारतत्त्व परिस्थिति में होना है।"

2. मार्सल के अस्तित्ववादी सत्ताविज्ञानवाद का मुख्य लक्ष्य उस द्वैतवाद का विरोध करना है जो कार्टिशियन और परम्परागत सिद्धांतों में विषय-विषयी, विचार-सत्ता, बुद्धि-संकल्प, देह-आत्मा, मैं-तुम, आत्मा-ईश्वर के द्वैत एवं विरोध को जन्म देता है। क्योंकि इसने उस कृत्रिम समस्या को जन्म दे दिया है जिसने आधुनिक दर्शन में डेकार्ट से लेकर रसल तक को परेशान कर दिया है।

को मैं उसी अनुपात में अशुभ समझ पाता हूँ जिसमें वह मुझे आवेष्टित करता है। सत्ता का आवेष्टित होना ही मुख्य तथ्य है। मैं इसे नकार नहीं सकता हूँ, यह अनुचित है क्योंकि ऐसा करने में मैं अपने को ईश्वर मान लेता हूँ, एक ऐसा ईश्वर जो स्थिति का दर्शक मात्र है। यह दृष्टांत बता देता है कि कैसे मुझमें क्या है और मेरे सम्मुख क्या है का भेद नहीं रहता है। जो स्थिति मुझे आवेष्टित या सम्मिलित करती है, उससे मैं मुक्त नहीं हो सकता, चाहे मैं कैसी ही कल्पना कर लूँ, कैसे ही आदर्श जगत् की धारणा बना लूँ।

इसी भाँति वे प्रेम, हताशा, आत्महत्या, पाप, मृत्यु आदि की चर्चा करते हुए समझाते हैं कि संपूर्ण समस्या 'मैं क्या हूँ' (अस्तित्व) और 'मैं क्या रखता हूँ' (स्वा-मित्व) की समस्या है। अथवा 'मैं क्या हूँ' और 'मैं क्या रखता हूँ' के मध्य संघर्ष सामान्य और अनिवार्य है। मैं जो रखता हूँ, वह मुझसे बाह्य और स्वतंत्र है। तब प्रश्न उठता है : क्या इस अर्थ में मैं 'देह रखता हूँ।' इस समस्या की विकटतम स्थिति आत्म-हत्या है। चाहने पर मैं शरीर का संरक्षण कर सकता हूँ, या विनाश कर सकता हूँ एवं उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता हूँ या उसे अपने से अलग एक यंत्र मान सकता हूँ। पर तब प्रश्न उठता है : जो देह को जीवित या मृत करता है, जो उसकी हत्या करता है, वह "मैं" क्या है ? इसकी परिभाषा है : स्वतंत्रता। अथवा मैं उस परम स्वतंत्रता का उपयोग तो कर सकता हूँ जो आत्महत्या के माध्यम से शरीर को मुझसे अलग कर देगी, पर यह उस उद्देश्य को झुठला देगी जो मेरी स्वतंत्रता से युक्त है। यह स्वतंत्रता "मैं" और 'पदार्थ' (वस्तु-विषय) के संबंध का सूत्र है। अथवा यह "मैं क्या हूँ" और "मैं क्या रखता हूँ" की समस्या है। "मैं क्या हूँ" (मैं) और "मैं क्या रखता हूँ" (पदार्थ) एक-दूसरे को आक्रांत करते हैं।[1] मार्सल मानते हैं कि सभी प्रकार के रखने में, यहाँ तक कि संपत्ति के पूर्ण और आत्मीय अधिकार में भी आंतरिक और बाह्य का संघर्ष है। परि-णामतः इस संघर्ष अथवा आक्रांतता के कारण मैं एक दुःखद भ्रम से पीड़ित हो जाता हूँ क्योंकि मेरी स्वीकृति की संभावना ही मेरी स्वतंत्रता का भावात्मक अर्थ है। सच यह है कि मैं समस्या का निर्वैयक्तिक भाव से समाधान नहीं कर पाता हूँ क्योंकि मैं स्वयं उसमें आवेष्टित हूँ। पर यदि मैं अपने संपूर्ण अस्तित्व पर प्रश्न करूँ—"मैं क्या हूँ" ?

---

1. मार्सल के अनुसार जीवन की सफलता सृजनात्मक कर्म और अनुक्रिया-शील भावना के तनाव को दूर करने पर निर्भर है। इस स्थिति में 'रखता हूँ' का निरा-करण नहीं करता होता है, वह सत्ता में सम्मिलित हो जाता है जिसमें एक और अन्य मैं और तू हो जाते हैं, विज्ञान का तत्त्वविज्ञान से एकीकरण हो जाता है तथा स्दायत्तता का स्वतंत्रता में उत्कर्ष हो जाता है जो सहभागिता है।

तो मुझे पहले "मैं" को समझना होगा। ऐसा करने में "मैं" अपने को दृढ़तापूर्वक स्वी-कार करता हूँ। मैं अपने बारे में कुछ नहीं कह रहा हूँ किन्तु मैं उस सबका आधार हूँ जो कुछ भी कहा जा सकता है। सत्ता मूलगत है, विद्यमान है; ज्ञान गौण है और सत्ता को सिद्ध नहीं कर सकता है क्योंकि ज्ञान सत्ता की स्वीकृति के अंदर कार्य करता है तथा उसकी अपेक्षा रखता है। सत्ता को हमें जानना या पहचानना होगा। उसको जानने के लिए हमें वही हो जाना होगा। अथवा, सत्ता को हम सहभागिता या तादात्म्य द्वारा जान सकते हैं, न कि स्वामित्व या तार्किक बुद्धि द्वारा। पर सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए अटूट निष्ठा एवं प्रेम की स्थिति को प्राप्त करना होगा और यह मानसिक या आंतरिक रूपांतर के बिना संभव नहीं है।

मध्यम पुरुष का सिद्धांत : मैं और तू

मनुष्य एवं मनुष्य की वास्तविकता को समझाते हुए मार्सल करते हैं कि वह सत्ता का भागीदार है—मनुष्य जगत् में है। उसे जगत् से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। व्यक्ति और समाज एवं जगत् अथवा व्यष्टि और समष्टि एक-दूसरे को प्रकाशित करते हैं। व्यक्ति अथवा मानव अस्तित्व को समझने के लिए हमें उसकी जगत् में स्थिति को समझना होगा। भौतिक जगत् सत्ता ही है जिसमें हम भाग लेते हैं। जगत् के प्रति घृणा या वितृष्णा रखना ईश-निन्दा है। वे ऐसे किसी भी मत, सिद्धांत या धर्म को स्वीकार नहीं करते हैं जो सृष्टि के प्रति एक आदरपूर्ण प्रेमभाव से रिक्त है। इस दृष्टि से उनका दर्शन सत्ता में हमारे भागीदार होने की विधियों पर प्रकाश डालते हुए यह दर्शाता है कि किस भाँति हम सत्ता के साथ विश्वासघात करते हैं। यह हमारी स्वतंत्रता और निष्ठा के स्वरूप को भी समझाता है। स्वतंत्रता प्राथमिक विषय-विषयी संबंध है, यह जीवन को स्वीकार या अस्वीकार करने की संभावना है। निष्ठा विषय-विषयी का परम संबंध है। इसलिए निष्ठा के अनुभव का चिंतन में पुनर्जीवन ही सत्ता के अन्वेषण के लिए सबसे अधिक आशाजनक विधि है। मैं अपने आपको, इस जगत् में, दूसरों के साथ रहता हुआ पाता हूँ। यह जगत् मुझसे अपेक्षा रखता है। मैं दूसरों (पर या अन्य) के प्रति प्रतिक्रिया करता हूँ और साथ ही उनके प्रति अपने उत्तरदायित्व को भी स्वीकार करता हूँ। यह दूसरे (मध्यम पुरुष) का अस्तित्व है जो मुझे अपने बारे में प्राथमिक धारणा देता है और जहाँ तक मैं दूसरों के अस्तित्व में विश्वास करता हूँ और उस विश्वास के अनुरूप कर्म करता हूँ, मैं प्रकारान्तर से, अपने अस्तित्व को दृढ़ता-पूर्वक घोषित करता हूँ। इसी भाँति यह दूसरों के प्रति मेरी सच्ची प्रतिक्रया है जो निष्ठा में मेरी अपनी सत्ता की सृष्टि का संरक्षण करती है। मार्सल मानते हैं कि नैतिक अनु-भव के इस सारतत्त्व पर चिंतन सत्ता के दर्शन की ओर ले जाता है।

दो व्यक्तियों के मिलन एवं मित्रता के गहन आदान-प्रदान या प्रेम में अन्य पुरुष के लिए स्थान नहीं रहता। प्रत्येक दूसरे के लिए मध्यम पुरुष हो जाता है, 'एक तू' और तब वे प्रथम पुरुष में साथ हो जाते हैं, 'एक हम'। प्रत्येक दूसरे के सामने है और उसके साथ सदैव रहने की प्रतिज्ञा करता है। प्रत्येक की आंतरिक सत्ता दूसरे के सम्मुख उपस्थित है और निष्ठा सदैव उस उपस्थिति का सक्रिय संवर्धन और उपभोग है। इस उपस्थिति का विनाश अनुपस्थिति अथवा मृत्यु नहीं कर सकती। इस संबंध की वास्तविकता अतिकालिक है। इसलिए मृतकों के लिए कहना 'वे नहीं हैं', 'उसका अस्तित्व नहीं है', वास्तविकता के बदले रूप, आकार एवं दृश्यमान को महत्व देना है। यह केवल मृत का ही निराकरण करना नहीं है, वरन् अपना भी निराकरण करना है। क्योंकि प्रेम एवं मित्रता की गहनता में दूसरा व्यक्ति मेरे लिए 'पदार्थ' नहीं रहता है, वह मेरे 'मैं' का अंग बन जाता है। यह मैं 'क्या हूँ' और 'मैं क्या रखता हूँ' को समझना है। यहाँ पर 'रखना' 'होना' हो जाता है। अतः प्रेम दो व्यक्तियों को निकटता में ले आता है, यह 'तू' का 'हम' हो जाना है। जितना ही मैं दूसरे के सम्मुख सचेत रहता हूँ, उतना ही मै अपने सम्मुख भी सचेत रहता हूँ और उतनी ही अधिक मेरी नियति, मेरी सार्थकता, मेरी सत्ता की समग्रता रहती है। प्रेम के पारस्परिक आदान-प्रदान में सत्ता का आदान-प्रदान होता है जो अन्य व्यक्ति के ज्ञान या सम्मति के परे है। यदि इसे सही अर्थ में लें तो यह परम की धारणा को भी वास्तविक अर्थ प्रदान करता है तथा उपलब्धि की सीमा, न कि कुंठा की सीमा, को व्यक्त करता है।

परित्याग : आशा : निष्ठा

दो व्यक्तियों की एक दूसरे के प्रति उपस्थिति, एक दूसरे के होने का अभिज्ञान एवं मध्यम पुरुष का सिद्धांत जो निष्ठा में 'हम' हो जाता है, परित्याग की धारणा को जन्म देता है। परित्याग अपने आपको अर्पित करने की तत्परता है। अपरित्याग इसका उल्टा है क्योंकि जब मैं किसी ऐसे के साथ होता हूँ जो अपने को त्याग करने के लिए तत्पर न हो, तब मैं एक ऐसे प्राणी के साथ होने के बारे में सचेत हो जाता हूँ जिसके लिए मेरा अस्तित्व नहीं है। ऐसी स्थिति में मैं अपने में लौट आता हूँ। त्याग के योग्य न होना, आत्म-समाविष्ट होना है; यह 'रखने' के क्षेत्र में स्थिर होना, बेचैन होना, उदास होना और परिस्थिति से चिंतित होना है।[1] यह उन विशिष्ट वस्तुओं जिनमें

1. इसी संदर्भ में वे कहते हैं, "मैं अपने आपको त्याग के योग्य नहीं बनने देता हूँ जब मैं अपने जीवन या सत्ता को एक ऐसी वस्तु के रूप में मानता हूँ जो मेरे पास है और जिसे मैं किसी अर्थ में एक ऐसा परिमाण मानता हूँ जिसका विध्वंस, समापन, यहाँ तक कि वाष्पीकरण हो सकता है। यह चिंता का कारण है और आत्मा को शुष्क बना देता है। आत्मा की शुष्कता परोपकारी, दयालु प्रवृत्तियों को उत्पन्न नहीं होने देती है।"

अभिरुचि केन्द्रित हो जाती है, के बारे में धूमिल बेचैनी या अशांति है जो हताशा में शिलीभूत हो जाती है। मुझमें अपने आपको 'रखने' से युक्त करने की प्रवृत्ति भी है। इस प्रवृत्ति के कारण मैं सोचता हूँ कि जब मेरे पास 'रखने' को कुछ नहीं होगा, तब मैं कुछ नहीं रह जाऊँगा। यही चिरकालीन व्यग्रता और चिंता का कारण है जो आत्मा को सुखा देती है तथा सभी उदार प्रेरणाओं पर अवरोध लगा देती है। ऐसा व्यक्ति निराशा-हताशा का जीवन जीता है। 'रहने के जगत्' में जीनेवाला आशावान् नहीं हो सकता[1] और सत्य यह है कि आत्मा आशा से ही जीती है। जो 'रहने के जगत्' में जीता है, वह इच्छा करता है, डरता है, पर आशा नहीं कर पाता। आशा करना डर से विमुख होना नहीं है, यह विश्व की हताशा को अस्वीकार करना है। आत्मा आशा में ही साँस लेती है, वह मूल्यों की परम सुरक्षा, विधान और संयोजन में विश्वास करती है। दार्शनिक दृष्टि से यह चिंतन का कार्य है, किन्तु यह तभी सफलता पा सकता है जब यह साहस, त्याग और सहभागिता की ओर ले जाए।

मेरा अस्तित्व है क्योंकि जिसे मैं रखता हूँ, उसको मैं छोड़ सकता हूँ, समाप्त कर सकता हूँ। मैं अपने जीवन का त्याग कर सकता हूँ अथवा अपनी देह के माध्यम से जिसे मैं रखता (अधिकृत करता हूँ) हूँ, उसे मैं नष्ट कर सकता हूँ। किन्तु मैं अपनी देह का विनाश नहीं करता हूँ, यह काम मैं दूसरों के लिए छोड़ देता हूँ, यही मेरे त्याग न कर सकने की नियति है। जब मैं अपना त्याग करता हूँ तब मैं, मैं जो रखता हूँ, उससे अधिक हूँ क्योंकि मेरे लिए दूसरे हैं, वे मूल्यवान् और वास्तविक हैं। ऐसे में मैं केवल उनके लिए उपस्थित ही नहीं रहता जिन्हें मैं प्यार करता हूँ, वरन् मैं उनके लिए कर्म भी करता हूँ। कर्म तब प्रमाणित होता है जब मैं उसे अपना लेता हूँ। किसी चीज का सामना करना, उसका दायित्व लेना, उसका मूल्यांकन करना मेरे व्यक्तिगत अस्तित्व की विशेषताएँ हैं। ये वे कर्म हैं जिनमें न केवल व्यक्ति अपने आप में आता है, वरन् साथ ही वह अन्य दलों के निर्वैयक्तिक जगत् में भी हस्तक्षेप करता है, यह जगत् वह है जिससे हम सब समय एक प्रकार से संबद्ध रहते हैं। ऐसे कर्मों में मैं पूर्णतः उपस्थित ही नहीं रहता हूँ, मैं अपने से परे भी जाता हूँ।

उपर्युक्त कर्म, त्याग और निष्ठा मुझे अव्यय सत्ता के भागी बनाते हैं। मार्सल के अनुसार यदि मैं त्याग-योग्य हूँ तो निष्ठा मेरे अनुभवों में से एक मुख्य अनुभव है जिसके

1. वास्तव में निराशावाद, विश्व की हताशा आदि के मूल त्याग न कर सकने के स्रोत में है।

द्वारा मैं अव्यय सत्ता का भागी बनता हूँ और उसकी तृप्तिदायक अव्यय शक्ति का आस्वादन करता हूँ। सत्ता अव्यय होने के कारण अगण्य एवं अनंत है। उसको पूर्णतः जानना, उसका एक सामान्य वस्तु की भाँति लेखाजोखा रखना संभव नहीं है। यह अच्छा ही है क्योंकि आशा केवल उसी जगत् में संभव है जो आश्चर्य अथवा चमत्कार से युक्त है। अव्यय सत्ता की अनंतता एवं जगत् का आश्चर्यजनक रूप आस्था अथवा उल्लास का आधार है। मानव जीवन हताशा और व्यक्तिगत असहायता से आच्छादित है। ऐसे में आशा ही उसका मार्गदर्शक है। आशा संकल्प की क्रिया को पोषित करती है और भविष्यवक्ता की भाँति कहती है—ऐसा ही होगा।

मूल्यांकन

मार्सल का दर्शन आस्थावादी और आशावादी है। उनका आस्थावाद रूढ़िवादी ईश्वर-ज्ञान से भिन्न है क्योंकि उसका निर्गमन मूलतः अनुभव के व्यक्तिगत विश्लेषण से होता है। उनके आशावादी उल्लास का आधार अलौकिकता है, चमत्कार है; सत्ता का अव्यय और अनंत स्वरूप है। जगत्-जीवन के आधात, अलंघनीय कठिनाइयाँ, व्यक्तिगत दुःख, वातावरणजन्य प्रताड़नाएं इस अनंत को हमारे निकट लाती हैं, हमें मुक्ति की आशा दिलाती हैं, हमें बताती हैं कि हम भगवान् की उपस्थिति में जी रहे हैं। यदि जगत् में सब कुछ ठीक होता, सब कुछ व्यवस्थित, बौद्धिक तथा संयोजित होता, किसी प्रकार का अवरोध या रुकावट नहीं होती, किसी प्रकार का संघर्ष, टकराव या क्रम-भंग नहीं होता तो मुक्ति की कामना अर्थहीन हो जाती। अतः मार्सल का आस्थावाद एवं ईसाई धर्म जगत् जीवन की सीमाओं को अनंत की प्राप्ति के लिए अनिवार्य मानता है—उनके अनुसार जगत् जीवन की कठिनाइयाँ ही आशा को जन्म देती हैं, यह आशा मानसिक आलस्य या जादू-टोने की सूचक नहीं है, वरन् उस सत्य को इंगित करती है जो हमारा दायधन है, अव्यय एवं ईश्वर है। ईश्वर के अस्तित्व को हम बौद्धिक प्रमाणों या इतिहास के आधार पर सिद्ध नहीं कर सकते हैं। यह अनुभव है जो हमें आस्था और आशा से अनुप्राणित करता है। आस्था और आशा के कारण हम भगवान् की उपस्थित में जीने की कामना करते हैं, मुक्ति की अभीप्सा रखते हैं, विश्व की अखण्डता और पूर्णता में विश्वास करते हैं। अथवा, अपनी आवश्यकता की गहनता में मैं परात्पर के सर्वोच्च शिखर के लिए अपना निवेदन अर्पित करता हूँ—"मैं तुझ पर आस्था रखता हूँ, तू जो मेरा एकमात्र आश्रय है।"

अपने धार्मिक आशावाद को आरोपित करते हुए, प्रारम्भ में, मार्सल हमारी अनन्त आशाओं को आश्वासन देते हैं, पर अन्त में, अस्तित्ववादी विधि से ईसाई-धर्म की मुक्ति के सिद्धांत की सार्थकता की बात करते हैं। वास्तव में वे ईसाई-धर्म को अस्तित्ववादी परिवेश और अस्तित्ववादी भाषा का रूप दे देते हैं। अस्तित्ववाद की दृष्टि

से उन्होंने सभी अस्तित्ववादियों की भाँति समझाया कि विषय या पदार्थ की भाँति मानव-अस्तित्व का विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। विचारक को स्वयं एक अस्तित्ववादी व्यक्ति के समग्र रूप—बाह्य और आंतरिक परिस्थिति—को समझना होगा। कोई भी वह सिद्धांत जो व्यक्ति को बाहर से समझता है, मिथ्या है। विचारक को अपने तथा बाह्य परिस्थिति के अंतर को समझना होगा, उसे अपनी आन्तरिक वास्तविकता को समझना होगा, न कि अपने उन बाह्य संबंधों या गुणों को जो उसके विशेषण माने गए हैं। जीवन का रहस्य अथवा सत्ता तार्किक विश्लेषण, बौद्धिक परीक्षण या वैज्ञानिक बुद्धि का विषय नहीं है। इस वास्तविकता—सत्ता—को समझना ज्ञाता-ज्ञेय के संबंध के परे जाना है। साथ ही यह वास्तविकता व्यक्तिगत सीमाओं का अतिक्रमण कर ईसाई मानववाद और मुक्ति के सिद्धांत का समावेश करती है। अस्तित्व और स्वामित्व, समस्या और रहस्य तथा त्याग और निष्ठा के माध्यम से मार्सल दिव्य अनुग्रह, आध्यात्मिक परिवर्तन एवं आंतरिक रूपांतर पर प्रकाश डालते हैं। अतः वे भविष्य के लिए किसी नए तत्त्वदर्शन की नींव नहीं डालते हैं क्योंकि उनका अस्तित्ववादी तत्त्वदर्शन ईसाई धर्म, उसका मुक्ति का सिद्धांत, दिव्योन्मेष, आंतरिक परिवर्तन आदि बातों को अडिग विश्वास और निष्ठा के साथ दुहरा देता है। उनका अस्तित्ववाद, मुख्यतः इसी कारण, जगत् की सीमाओं में शुभत्व देखता है एवं इन सीमाओं को दिव्य-प्राप्ति के लिए अनिवार्य साधन मानता है।

———

हाइडेगर

जीवन

'ब्लैक फॉरेस्ट' क्षेत्र में हाइडेगर[1] का जन्म एक कैथोलिक कृषक परिवार के घर में सन् 1889 में हुआ था। युवावस्था से ही उनकी धर्ममीमांसा और दर्शन में रुचि थी। सन् 1915 में वे फ्राइबर्ग में दर्शन के प्राध्यापक नियुक्त हुए और हुज़र्ल के संपर्क में आए एवं उनसे प्रभावित हुए।[2] मारबर्ग में हाइडेगर की नियुक्ति सन् 1923 में दर्शन के अध्यक्ष के रूप में हुई। ग्रीक और मध्ययुगीन दर्शन का उन्हें व्यापक ज्ञान था। उन्होंने अपनी प्रथम पुस्तक जॉन डन्स स्कॉट्स पर लिखा। मारबर्ग में उन्होंने 'सत्ता और काल'[3] लिखी जो सन् 1927 में प्रकाशित हुई। सन् 1929 में हुज़र्ल के अवकाश प्राप्त कर लेने पर वे फ्राइबर्ग में दर्शन के अध्यक्ष होकर आ गए। अवकाश प्राप्त करने के बाद 'ब्लैक फॉरेस्ट' की एक पहाड़ी में रहने लगे और अब वहाँ उन्होंने अपने प्रिय कवि वे होल्डरलिन की कृतियों के रसास्वादन द्वारा अपना शेष जीवन व्यतीत किया।

सत्ताविज्ञानवाद : अस्तित्ववाद

हाइडेगर की पुस्तक 'बीइंग एण्ड टाइम' अत्यंत प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण है। इसमें अस्तित्ववादी विचारधारा के प्रामाणिक तत्त्व मिलते हैं। स्वयं हाइडेगर यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि वे अपनी इस पुस्तक में प्लेटो और एरिस्टॉटल के स्तर का तत्वदर्शन प्रतिपादित करना चाहते हैं।[4] अथवा, वे इस युग के एरिस्टॉटल के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं। अपनी पुस्तक 'सत्ता और काल' के प्रारम्भ ही में वे स्पष्ट कर देते हैं कि वे

1. Martin Heidegger (1889) जर्मन दार्शनिक, महत्वपूर्ण कृतियाँ Being and Time; Letter on Humanism; What is Metaphysics ?; Existence and Being.

2. इसके पूर्व वे नव्य-कांटियन चिंतन से प्रभावित हुए थे।

3. Sein Und Zeit (Being and Time)

4. उनके इस विश्वास और उद्देश्य को उनकी बाद की रचनाएँ भी सिद्ध करती हैं।

सत्ता के अर्थ की समस्या पर पुनर्चिंतन कर रहे हैं[1]—प्राचीन एवं शास्त्रीय समस्या को नये ढंग, नये संदर्भों में प्रस्तुत करना चाहते हैं। सन् 1919 से अपने इस उद्देश्य को व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक रूप से अभिव्यक्ति देते हुए उन्होंने कहना प्रारम्भ किया कि वे सत्ताविज्ञानवादी (Ontologist or Pursang) हैं, न कि अस्तित्ववादी। हाइडेगर का यह कथन उस भिन्नता पर प्रकाश डालता है जो उनके तथा सार्त्र और यास्पर्स के दृष्टिकोण में परिलक्षित होता है। यास्पर्स सामान्य सत्ताविज्ञान को स्वीकार नहीं करते हैं और न सार्त्र ही किसी ऐसी सत्ता (being) को मानते हैं जो मनुष्य का अतिक्रमण करती है। हाइडेगर का कहना है कि वे सत्ता की समस्या को समझना चाहते हैं, न कि व्यक्तिगत अस्तित्व को। उनका अस्तित्ववाद अस्तित्व मात्र को महत्व देता है। हाइडेगर अपने दर्शन को किर्कगार्ड और यास्पर्स के दर्शन से विशिष्ट बतलाने के लिये अधि-अस्तित्ववाद (Super-existentialism) कहते हैं। जाँ वाल (Jean Wahl) को उन्होंने एक पत्र में लिखा था, "मेरा सर्वथा अस्तित्ववाद का दर्शन ही है। मेरे लिये जो प्रश्न है, वह मानव का अस्तित्व नहीं है, प्रत्युत अस्तित्व मात्र है। यही अस्तित्व मात्र मेरे दर्शन का विषय है।"[2] किन्तु उनका यह विरोध निष्फल रहा, वे अस्तित्ववादी ही माने जाते हैं। उनके विचार और विषय एवं उनकी समस्याओं को सुलझाने की प्रणाली, उनके शब्दों की शक्ति तथा चयन-विधि, धारणाएँ, भाषा आदि सभी कुछ अस्तित्ववादी साँचे को अपनाए हैं। जर्मनी और फ्रांस के लोगों एवं सार्त्र को उन्होंने अपने अस्तित्ववादी रूप में ही प्रभावित किया है। उन्होंने स्वयं भी अस्तित्ववादी दार्शनिकों से बहुत कुछ ग्रहण किया है, किर्कगार्ड के तो वे सदैव ऋणी रहेंगे। किर्कगार्ड के प्रभाव में उन्होंने मानव-अस्तित्व का अस्तित्ववादी विश्लेषण किया, ताकि सत्ता की प्राचीन दार्शनिक समस्या का वे नये ढंग से विवेचन प्रस्तुत कर सकें। वैसे, हाइडेगर के लिये यह कहना उचित होगा कि वे अपने युग के प्रमुख विचारकों से प्रभावित हैं।[3] जहाँ तक उनके कृतित्व का प्रश्न है, वह

1. "The preface to Being and Time concludes its first page with these prepositions : The detailed elaboration of the problem of the meaning of being is the intention of the following dissertation."—Heidegger.

2. जयदेव सिंह : समकालीन दर्शन, पृ० 102 (विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा० लि०, नई दिल्ली, 1979)

3. Kierkegaard, Nietzsche, Bergson, Dilthey, Husserl, Scheler, Simmel etc.

हुज़र्ल हाइडेगर के गुरु रह चुके हैं। हाइडेगर अपने गुरु से पर्याप्त प्रभावित हैं, यह उनकी प्रणाली से स्पष्ट है। हुज़र्ल दृश्यमानवादी हैं। उन्होंने न केवल हाइडेगर, वरन् सभी अस्तित्ववादियों को प्रभावित किया है। यह मानना होगा कि अस्तित्ववाद का वर्तमान रूप हुज़र्ल के ही कारण है।

सत्ताविज्ञानवाद और अस्तित्ववाद के मध्य मँडराता है। 'सत्ता और काल' में वे कभी अस्तित्ववादी कथनों को सत्ताविज्ञानीय अर्थ से युक्त करते दीखते हैं तो कभी इन कथनों को अस्तित्ववादी ही रहने देते हैं अथवा मानव-अस्तित्व, दाज़ाइन[1] की समस्या का विश्लेषण करते हैं। इनके समांतर में हाइडेगर का एक अन्य रूप और है, वह है इन दोनों का मिश्रण। इसलिये उन्हें समझने की समस्या एक विकट समस्या बन जाती है, विशेषकर, इसलिए भी कि वे अपने मनोनुकूल एवं स्वेच्छित शब्दावली का प्रयोग करते हैं, एक ऐसी शब्दावली का जो रहस्य का आवरण तो डालती है, पर अपने आपमें अबोध्य है। वस्तुतः यही हाइडेगर की मौलिकता और नवीनता है।

सत्ता का दर्शन

विज्ञान और तत्वविज्ञान के भेद पर प्रकाश डालते हुए हाइडेगर कहते हैं कि तत्व-विज्ञान मानव-सत्ता (दाज़ाइन) का आत्म-अध्ययन है। विज्ञान सत्ता के वस्तुगत अंगों का निरीक्षण, परीक्षण एवं अध्ययन करता है। उसके अनुसंधान का विषय वास्तविक अस्तित्व[2], अस्तित्ववान् पदार्थ हैं। वह मनुष्य का एक वस्तु की भाँति अध्ययन करता है। सच्चा तत्वविज्ञान एवं सत्ताविज्ञान सत्ता[3] का अध्ययन करता है। यह उस सत्ता का अध्ययन करता है जो सामान्य अनुभव के विषयों के मूल में है। अथवा, यह सब पदार्थों के मूल को जानना चाहता है तथा यह उनका अतिक्रमण भी करता है, क्योंकि यह जानना चाहता है कि सत्ता अपने आपमें क्या है। हाइडेगर मानते हैं कि मानव-सत्ता के लिए सत्ता का अध्ययन संभव है क्योंकि वह सत्ता का अपनी आत्मा में तथा उसके द्वारा अध्ययन कर सकता है। इसका कारण यह है कि सत्ता अपने आपको मानव-आत्मा द्वारा उद्घाटित करती है—मानव-आत्मा उसी की एक अभिव्यक्ति है। अतः विज्ञान और तत्वविज्ञान के दृष्टिकोण में स्पष्ट अंतर है। विज्ञान मनुष्य के अप्रामाणिक और वस्तुगत स्वरूप का अध्ययन करता है। यह उसके उन सामान्य लक्षणों पर प्रकाश डालता है जो उसके मानव जाति के अंग होने के चिह्न हैं। किन्तु तत्वविज्ञान मनुष्य के प्रामाणिक, आंतरिक, व्यक्तिगत और विलक्षण अस्तित्व को प्रकाशित करता है।

इस दृष्टि से दार्शनिक सिद्धांतों का अध्ययन करने पर वे इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि हमें सत्ता की समस्या को समझने के लिए एक नई दृष्टि चाहिए। सदियों पूर्व यूनानी विचारकों ने सत्ता की महत्ता को समझा था और इस ओर उन्होंने उन्नति भी की थी। किन्तु बाद में वे चारों ओर की वस्तुओं और उनके गुणों की ओर आकर्षित हो गए। परिणामतः उन्होंने सत्ता को बाहरी तत्वों से युक्त कर दिया। उन्होंने उन वर्गों

1. Dasein
2. Seiendes
3. Sein

(केटिगरीज़) पर प्रकाश डाला जिनसे ऐसी वस्तुओं को समझा जा सकता है। फिर बिना उचित चिंतन और विवेक के उन्होंने इन वर्गों को मनुष्य पर आरोपित कर दिया, और इस कारण, मानव-अस्तित्व तथा उसकी कालिकता के विलक्षण रूपों को वे नहीं समझ पाए। उस समय से सत्ता पर निश्चित तथा स्पष्ट ढंग से ध्यान केन्द्रित नहीं किया गया, उसे सदैव वस्तुओं के सारतत्वों की संरचना से मिश्रित कर दिया गया। मध्ययुग के विचारकों ने भी, हाइडेगर के अनुसार, इस दिशा में कोई वास्तविक उन्नति नहीं की। सत्ता को वस्तुओं से भिन्न न समझ सकने के कारण उन्होंने मनुष्य को एक उस वस्तु या द्रव्य के रूप में समझ लिया जिसके निर्धारित गुण काल में प्रकट होते हैं। किन्तु, सत्ता न तो कोई द्रव्य है और न कोई गुण ही। जो कुछ भी व्यक्त होता है, वह अस्तित्ववान् पदार्थ है, वह स्वयं सत्ता नहीं है। सत्ता को हम किसी प्रत्यय द्वारा नहीं जान सकते हैं। उसका न तो कोई दैशिक रूप है और न कालिक रूप ही है। वह अवस्तु है, शून्य है। आधुनिक दार्शनिकों के दर्शन की त्रुटि पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि उन्होंने तर्कपरक युक्तियों के माध्यम से यह मान लिया कि व्यक्ति एक असम्बद्ध मानस है जिसका जगत्, से एक मात्र संपर्क असंबद्ध बोध[1] द्वारा होता है। इन दार्शनिकों ने विषय-विषयी संबन्ध को भी मूलगत मान लिया। इसका परिणाम यह हुआ की सत्ता को उन्होंने एक सामान्य विशेषण के रूप में स्वीकार कर लिया जो किसी भी अन्य से अधिक अमूर्त है।[2] हाइडेगर का कहना है कि सत्ता की समस्या को उन्होंने उठाया ही नहीं। अतः वे दर्शन, सत्ता के दर्शन के लिए एक नवीन दृष्टि की अनिवार्यता को मानते हुए मनुष्य के दृश्यमान-वादी अध्ययन की आवश्यकता को महत्व देते हैं। ऐसे अध्ययन के माध्यन से ही सत्ता की समस्या को उठाया जा सकता है। मनुष्य के अस्तित्व के द्वारा ही हम सत्ता को समझा सकते हैं क्योंकि मनुष्य दाज़ाइन, हाइडेगर के अनुसार, अपनी सत्ता के रूप में सत्ता के प्रति उन्मुक्त है। और जहाँ तक मानव-अस्तित्व का प्रश्न है, उसको भी हम केवल सत्ता के संबन्ध में ही ठीक से समझ सकते हैं।

हाइडेगर के दर्शन की सच्ची समस्या सत्ता की समस्या है। यही उनके दर्शन का केन्द्रीय सत्य है। सत्ता की समस्या को वे उसकी कालिक और ऐतिहासिक प्रकृति के उस

1. Detached cognition
2. Being and Time—Trans. J. Macquarrie and E.S. Robinson (New York 1962), pp. 95-101.

हाइडेगर की ऐसी आलोचनात्मक व्याख्या के कारण हम यह विस्मरण नहीं कर सकते कि एरिस्टोटल ने अपनी 'मेटाफिजिक्स' में यह प्रमाणित किया था कि सत्ता एक अमूर्त वर्ग नहीं है। वे वस्तु जो हमारे सम्मुख हैं, वे सत्ता में भाग ले सकती हैं, किन्तु उनका सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता।

रूप में समझने का प्रयास करते हैं जो मनुष्य के जीवन और अस्तित्व में संकेन्द्रित है। 'सत्ता और काल' में वे प्रश्न करते हैं : सत्ता क्या है ? वे सत्ता के अर्थ के प्रश्न को उसकी एकता और समग्रता में उठाना चाहते हैं। सत्ता से उनका अभिप्राय परम वास्तविकता, ईश्वर या परात्पर सत्ता से नहीं है। वे सत्ताओं की सत्ता को समझना चाहते हैं। सत्ता अपने आप में क्या है ? यह समस्या तार्किक या भाषा-विज्ञानीय नहीं है। यदि है तो केवल कुछ सीमा तक। सत्ता की समस्या पर प्रकाश डालने के क्रम में हाइडेगर, वास्तव में, ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, तार्किक विश्लेषक और तत्त्वदार्शनिक के मध्य मँडराते हैं, यद्यपि स्पष्टतः वह सत्ताओं की सत्ता एवं सत्ताविज्ञानीय समस्या में लीन हैं। वे इस समस्या का समाधान प्राप्त करने के लिए मनुष्य को जानने का प्रयास करते हैं। उनका कहना है कि हम सत्ता के बाहर नहीं हैं, हम उससे उसी प्रकार संबन्धित हैं जिस प्रकार कि विचार के विषय से हैं। इसलिए हमें अस्तित्ववानों के विशिष्ट प्रकारों के परीक्षण द्वारा अप्रत्यक्ष विधि से प्रारंभ करना होगा। वे स्वयं ऐसे परीक्षण का प्रारंभ मानव-अस्तित्व से करते हैं क्योंकि, उनके अनुसार, सत्ता का तत्त्वदर्शन मानव-अस्तित्वान् का ही परिणाम है अथवा मनुष्य ही इस समस्या को उठाता है, और साथ ही वह सत्ता के साथ विशिष्ट संबन्ध का भोक्ता है तथा वह सत्ता के प्रति उन्मुक्त है। अतः सर्वप्रथम मानव-अस्तित्व की संरचना को उद्घाटित करना चाहिए। हाइडेगर ने अस्तित्व की समस्या को मानव-अस्तित्व के संदर्भ में समझने का प्रयास किया और व्यक्ति को भी स्वयं उसी के वातावरण, उसके ऐतिहासिक और कालिक स्वभाव एवं अन्य लोगों के संबन्ध में समझना चाहा।

हाइडेगर हुसर्ल की इस स्थापना को स्वीकार करते हैं कि दार्शनिक अध्ययन का मुख्य विषय सत्ता है, न कि वे वस्तुएँ जिनमें सत्ता है। वे सत्ता और सारतत्त्व के भेद को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जब हम किसी वस्तु के बारे में पूछते हैं कि यह क्या है तो वास्तव में हमारी जिज्ञासा उसके सारतत्त्व के बारे में होती है। इसलिए सारतत्त्व को जानने के पश्चात् हम पुनः प्रश्न कर सकते हैं : क्या इसका अस्तित्व है ?[1] अतः सारतत्त्व और अस्तित्व को हम एक नहीं मान सकते अथवा सारतत्त्व अपने अंदर अस्तित्व का समावेश नहीं करता है। किन्तु वे दार्शनिक जो सत्ताविज्ञानीय तर्क का प्रयोग करके ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं, सामान्यतः अस्तित्व और सारतत्त्व के मध्य किसी प्रकार की एकता मान लेते हैं। हाइडेगर ऐसी एकता को स्वीकार नहीं करते हैं, वे सभी

1. पेड़ पर बैठी चिड़िया को देखकर मैं मान लेता हूँ कि उसका अस्तित्व है। जो सचमुच में दिया हुआ है, वह सारतत्व है। चिड़िया का क्या(what) है, चिड़िया का लक्षण है। यह संभव हो सकता है कि पेड़ पर कोई चिड़िया न हो, किन्तु एकाध पत्तियाँ इस ढंग से हों कि वे चिड़िया-सी दीखती हों। अतः यह पूछना सारगर्भित है कि क्या चिड़िया का जो स्वरूप दीखता है, उसके अनुरूप पेड़ पर कोई सच्ची चिड़िया है ?

अस्तित्ववादियों के साथ मानते हैं कि अस्तित्व सारतत्त्व से पूर्व है तथा दर्शन (अस्तित्ववादी) का मुख्य संबन्ध अस्तित्व से है।

आत्मा एवं मानव-अस्तित्व : दाजाइन

आत्मा और बाह्य वस्तु के भेद को वे अस्तित्व और सारतत्त्व के आधार पर समझाते हैं। वस्तु में पहले सारतत्त्व मिलता है, इसलिए उसमें अस्तित्व गौण हो जाता है। आत्मा एवं अपने बारे में हमारा यह प्रश्न करना उचित होगा : मैं क्या हूँ ? किन्तु यदि इसके विपरीत मैं प्रश्न करूँ, 'क्या मैं हूँ ?' तो यह प्रश्न अर्थहीन हो जायगा। क्योंकि बिना अपने अस्तित्व को स्वीकार किए मैं अपने बारे में प्रश्न नहीं कर सकता हूँ। मानव-सत्ता के लिए मानना होगा कि पहले अस्तित्व है, फिर सारतत्त्व है। मानव-अस्तित्व एवं दाज़ाइन की तुलना किसी वस्तु अथवा उसके गुणों से नहीं की जा सकती है क्योंकि "दाज़ाइन का सारतत्त्व उसके अस्तित्व में है।"

हाइडेगर अपनी दार्शनिक खोज मानव-अस्तित्व[1] से करते हैं। उनकी स्थापना है कि सत्ता का तत्त्वविज्ञान मानव-अस्तित्ववान् की ही उपज है। यह 'दाज़ाइन' की धारणा को समझना है। जर्मन भाषा का दाज़ाइन (दा = वहाँ, ज़ाइन = होना) शब्द अस्तित्ववान् पदार्थों (वहाँ होना) के उस रूप का सूचक है जो मानवीय है। मनुष्य, दाज़ाइन, मानवीय अस्तित्व का प्रयोग वे किसी विशिष्ट अर्थ में नहीं करते हैं। वे मानते हैं कि मानव-अस्तित्व को, वास्तव में, परिभाषाबद्ध नहीं किया जा सकता है; यह संभावित सत्ता अथवा सत्ता की संभावना है। दाज़ाइन गत्यात्मक होता है, यह स्थाणु नहीं होता है। अतः मनुष्य निरन्तर अपने आगे जाता है, अपना अतिक्रमण करता है तथा अतीत से संबद्ध होते हुए भविष्य में प्रवेश करता है। फिर भी दाज़ाइन मानव-सत्ता के अस्तित्व के प्रकार का सूचक है, वह अपने अतीत में खो नहीं जाता है। भविष्योन्मुखी होने के कारण उसके जीवन का लक्ष्य होता है।

मनुष्य एवं आत्मा एक संभावना है, उसमें होने की शक्ति है। अथवा, मुझमें गुण हैं और मेरे गुण उन प्रकारों को व्यक्त करते हैं जिनमें मैं रहता हूँ। मेरे गुण वस्तुओं के स्वरूप की भाँति नहीं हैं क्योंकि ये मेरे अस्तित्व के प्रकारों को व्यक्त करते हैं, अथवा मेरे

1. वे मानते हैं कि सत्ता का उसके उचित रूप में केवल आत्मा ही अनुभव कर सकती है। और तब इसे अस्तित्व (existence) कहते हैं। पशु-पक्षी, विभिन्न जड़ वस्तुएँ एवं मेज-कुर्सी आदि, यहाँ तक कि गणित के विषयों में किसी न किसी अर्थ में सत्ता है। किन्तु वे सत्ता या अस्तित्व का उसके उचित रूप में मेरी भाँति अनुभव नहीं करते हैं। मैं अपने आपको एक वस्तु, जिसमें सत्ता है, के रूप में अनुभव नहीं करता हूँ, किन्तु अपने आपको अनुभव करने में मैं स्वयं अस्तित्व का अनुभव करता हूँ।

गुण मेरी उन संभावनाओं को व्यक्त करते हैं जिन्हें मैंने चरितार्थ किया है। इनके अतिरिक्त मुझमें अगणित अन्य संभावनाएँ भी हैं। मुझमें यह भी क्षमता है कि मैं उन गुणों की भी अपने में कल्पना कर लूं जो दूसरों में हैं, पर मुझमें नहीं हैं। अथवा, मैं यह सोच सकता हूँ कि मैं अपनी वर्तमान स्थिति से अच्छी स्थिति में क्यों नहीं हूँ। तात्त्विक दृष्टि से मनुष्य एवं मैं स्वतन्त्र हूँ क्योंकि मेरे अस्तित्व में अगणित संभावनाएँ निहित हैं। ये संभावनाएं मेरे अथवा किसी अन्य के सारतत्त्व द्वारा निर्धारित नहीं हैं। मनुष्य का अस्तित्व उसके उन संभावनाओं के वरण में है जो उसके सम्मुख हैं, क्योंकि उसमें होने की शक्ति है। किन्तु उसका वरण कभी परम नहीं होता है। इसलिए उसका अस्तित्व अनिर्धारित होता है। मनुष्य की सत्ताविज्ञानीय संरचना, उसके अस्तित्व के प्रकार का विश्लेषण करने पर प्रथम बात जो दीखती है, वह यह है कि मनुष्य की सत्ता जगत् में है। मनुष्य कभी अकेला नहीं रहता। वह एक असंबद्ध अहं नहीं है। वह एक विशिष्ट काल एवं एक विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थिति में रहता है। अथवा, वह जगत् में है और जगत् की वस्तुओं तथा अन्य लोगों से अनिवार्य रूप से संबंधित है। मनुष्य के विचार, भावना, संकल्प आदि के विषय उसकी जगत् में स्थिति की उपज हैं। अतः मेरी अस्तित्व की चेतना जगत् में मेरी चेतना से युक्त है। अपने दूसरे साथियों की भाँति मैं भी एक हूँ। इसलिए मेरा अपने बारे में बोध या ज्ञान उनके बारे में भी ज्ञान है जिनके साथ मैं जगत् में रहता हूँ तथा उसका भागीदार हूँ। मनुष्य की जगत् में स्थिति—'सत्ता-जगत् में', के आधार पर हाइडेगर इस बात पर महत्त्व देते हैं कि मनुष्य उस सत्ता के रूप में है जो अन्य लोगों में रुचि लेता है, उनके बारे में चिन्ता करता है, उनसे मानसिक और भावनात्मक भाव से संबन्धित है। यह संबंध उसके अस्तित्व के प्रकार का विधायक है, क्योंकि वह अपनी संभावनाओं की चरितार्थता में दूसरों का ध्यान आकर्षित करता है।

दूसरों के बारे में मेरी चेतना मुझे बताती हैं कि दूसरे लोग मेरे उपयोग के विषय, मात्र साधन रूप, नहीं हैं, वरन् मेरे ही समान अस्तित्व रखते हैं। मैं उन्हें अपने अस्तित्व की संभावना के रूप में अनुभव करता हूँ। मनुष्य और पशुओं के बीच यही मुख्य अंतर है। पशुओं में यह क्षमता नहीं है कि वे अपने अस्तित्व में अन्य ऐतिहासिक अस्तित्वों को अपनी संभावनाओं के रूप में स्वीकार कर सकें। वे अपनी निर्दिष्ट सत्ता के जीवन को एक निर्दिष्ट विश्व में जीते हैं। मनुष्य और पशु के बीच का यह अंतर, मनुष्य की दूसरों को जानने और उन्हें अपने ही भाँति समझने की बात, स्वतंत्रता की चेतना से जुड़ी हुई है। हाइडेगर मनुष्य को तात्विक स्वतंत्रता से युक्त करते हुए कहते हैं कि व्यावहारिक दृष्टि से उसकी स्वतंत्रता परम नहीं है, सीमित है।

1. 'सत्ता-जगत् में' (being-in-the-world)

यह मनुष्य की जगत् में स्थिति को समझना है। मैं अपने आपको जगत् की एक विशिष्ट स्थिति Geworfenheit में फेंका हुआ पाता हूँ। अपने इस रूप में मैं एक विशिष्ट जाति का अंग हूँ तथा मेरा चरित्र कुछ सहजात प्रवृत्तियों और बुद्धि से युक्त है। इस स्थिति का मैंने वरण नहीं किया है, यह मुझे बिना मेरे ज्ञान और प्रयास के प्राप्त हुई है। अस्तित्व के इस निर्धारित तत्त्व को हाइडेगर शिकसाल (Schicksal) कहता है। मेरी स्वतंत्रता मेरे भाग्य से सीमित है। स्वतंत्रता सच्ची सत्ता है, सीमित या भाग्य द्वारा निर्धारित स्वतंत्रता एक विशिष्ट प्रकार की सत्ता है। इस सीमित स्वतंत्रता को मनुष्य स्वीकार करता है, उसका उपयोग और उपभोग करता है। मानव के चारों ओर का जगत् ही उसके मुख्य कर्म का जगत् है। मैं इस या उस कर्म अथवा चिंता से अपने को मुक्त कर सकता हूँ। किन्तु यह कर्म से मुक्त होना नहीं है, किसी न किसी प्रकार का कर्म मैं अवश्य करता हूँ। इसी भाँति किसी व्यक्ति-विशेष पर अपनी निर्भरता से मैं अपने को मुक्त कर सकता हूँ, पर सामाजिक संबंधों से मैं अपने आपको पूर्णतः मुक्त नहीं कर सकता हूँ। अथवा मैं अपनी सत्ता को जगत् के संबंध में ही चरितार्थ करता हूँ। किन्तु साथ ही मैं अपने आपको एक विचित्र स्थिति में पाता हूँ। जब मैं स्वीकृत प्रथा-मान्य निर्णयों और मतों के अनुरूप कर्म करता हूँ, तब मैं मानव-अस्तित्व के सामान्य विधान का अंग बन जाता हूँ। तब यह माना जाता है कि मैं सम्माननीय संगति में हूँ। किन्तु सम्माननीय संगति में होना मेरे लिए अहितकर है, इसका अर्थ है कि मैं अपनी संभावनाओं का बलिदान कर देता हूँ। यह स्थिति यह भी इंगित करती है कि मैंने व्यक्तिगत दायित्व को नकार दिया है, मैं अज्ञात हो गया हूँ। यदि मैं मानव-अस्तित्व के स्वीकृत सामान्य रूप से संयोजित होना अस्वीकार करता हूँ तो मुझे घृणा से देखा जाता है, अथवा यदि मैं अपनी संभावनाओं और कल्याण के अनुरूप, निर्धारित प्रकार के जीवन से मुँह मोड़कर, अपनी संभावनाओं को चरितार्थ करने का प्रयास करता हूँ तो मेरे व्यक्तिगत जीवन में संकट उत्पन्न हो जाता है, मुझे निंदनीय माना जाता है। सामाजिक जीवन, सामाजिक संबंध मेरे कर्मों को नियंत्रित करना चाहते हैं, मुझ पर 'क्या करना चाहिए' और 'क्या नहीं करना चाहिए' का दृढ़ प्रतिबंध लगाना चाहते हैं। सामाजिक घृणा और आलोचना से बचने की मेरे अंदर एक तीव्रतम प्रवृत्ति है। यह मुझे उस जीवन को अपनाने की प्रेरणा देती है जो परंपरा या समाज द्वारा स्वीकृत है। इस प्रेरणा को अपनाना मेरे लिए अनुचित है क्योंकि ऐसा करके मैं अपने आपको वस्तुओं के जगत् की एक वस्तु समझ लेता हूँ जो निर्धारित गुणों से युक्त है। साथ ही मुझे नहीं भूलना चाहिए कि सामाजिक जीवन की निर्वैयक्तिक संरचना मानव-सत्ता के प्रकार की विधायक है क्योंकि दाज़ाइन सत्ता-सामान्य में[1] है। अतः दाज़ाइन

1. being-in-common

सत्ता के निर्वैयक्तिक संरचना से अलग नहीं हो सकता, मैं केवल उसे परिवर्द्धित कर सकता हूँ।

हाइडेगर मानते हैं कि मानव (दाज़ाइन) का अस्तित्व है, वह 'इग्ज़िस्ट' करता है। 'इग्ज़िस्ट' शब्द का प्रयोग वे शब्द-व्युत्पत्ति के आधार पर करते हैं। मानव 'इग्ज़िस्ट' करता है, अर्थात् मानव 'अपना अतिक्रमण करता' है।[1] अतः मानवीय अस्तित्व अपने अतिक्रमण द्वारा देश और काल की सीमाओं पर छलाँग मार लेता है। किन्तु इसके लिए दृढ़ निश्चय की आवश्यकता है। वे तीन प्रकार के अतिक्रमण की बात करते हैं। प्रथम प्रकार के आत्म-अतिक्रमण को वे जगत् के संदर्भ में समझाते हैं। उनका कहना है कि व्यक्ति और जगत् का संबंध विषयी और विषय का संबंध नहीं है। अथवा, उनका संबंध डेकार्ट, लॉक, कांट और कांटोत्तर आदर्शवाद द्वारा स्वीकृत ज्ञानात्मक संबंध नहीं है। यह प्रत्यक्ष सक्रिय सहभागिता का सबंध है।[2] द्वितीय प्रकार का अतिक्रमण तब मिलता है जब व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के संपर्क में आता है और यह संबंध भी प्रत्यक्ष संपर्क का संबंध है। तृतीय प्रकार का आत्म-अतिक्रमण काल से संबधित है। यह काल का अतिक्रमण करना है। भविष्य के बारे में चिन्ता करने के कारण वह अपने वर्तमान-क्षणिक अस्तित्व का काल—का अतिक्रमण करता है,[3] विशेष रूप से मृत्यु के साथ सह-भागिता में अतिक्रमण करता है। वह न केवल ज्ञानात्मक ढंग से भविष्य का पूर्वानुमान करता है, वरन् एक प्रकार से अपने आगे का जीवन जीता है।

किर्कगार्ड की भाँति हाइडेगर मानते हैं कि मनुष्य के निर्णयों में संकट का तत्त्व वर्तमान रहता है। प्रत्येक निर्णय, यहाँ तक कि किसी दार्शनिक स्थिति की स्वीकारोक्ति, उसके प्रति प्रतिबद्धता न केवल उस व्यक्ति को संकट में डालती एवं दायित्व से युक्त करती है जो निर्णय लेता है, वरन् कुछ सीमा तक दूसरों को भी संकट में डालती एवं उन्हें भी दायित्व से युक्त करती है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति जगत् में सन्निहित है, इसलिए उसके निर्णय समस्त अस्तित्व को प्रभावित करते हैं। इस संदर्भ में दर्शन की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं : "दर्शन एक सत्ता का दूसरी सत्ता को संकट-

1. हाइडेगर अनीश्वरवादी हैं। अतः वे आत्म-अतिक्रमण द्वारा, यास्पर्स की भाँति, भगवान् को प्राप्त करने की बात नहीं करते हैं।

2. परिणामतः हाइडेगर के दर्शन में अतिक्रमण की वह समस्या उत्पन्न ही नहीं होती है तो ज्ञानमीमांसा से युक्त है।

3. वह काल के स्वरूप को समझता है। "कालिकता अपने आपको वास्तविक त्रास के अर्थ में उदघाटित करती है।" मनुष्य जानता है कि उसका जीवन बीतता जा ता है—अस्तित्व काल से ग्रसित है।

ग्रस्त करना है।" अतः किसी भी दार्शनिक स्थिति को हल्के ढंग से या अनुत्तरदायित्वपूर्वक स्वीकार या अस्वीकार नहीं करना चाहिए। साथ ही निर्णय लेते समय हम देश-काल को नहीं भूल सकते हैं। हाइडेगर व्यक्ति की ऐतिहासिक स्थिति का ध्यान दिलाते हैं। उनकी दृष्टि में कोई भी ऐसा आदेश नहीं है जो सभी देश-काल में स्वीकार किया जा सके।[1] व्यक्ति को अपनी ऐतिहासिक स्थिति को समझना चाहिए, उसके अर्थ और आदेश के अनुरूप कर्म करना चाहिए। दर्शन, विशेष कर अस्तित्ववादी दर्शन, इसी कारण यह निर्धारित नहीं कर सकता कि व्यक्ति को क्या करना चाहिए। यह व्यक्ति की स्वतंत्रता, ज्ञान और संकल्प, उसकी परिस्थिति, उसका व्यक्तित्व और इतिहास है जो उसके मूर्त निर्णयों को निर्धारित करते हैं।

दाज़ाइन : जगत् तथा वस्तुएँ

हाइडेगर जगत् और उसकी वस्तुओं को दाज़ाइन के संबंध में समझाते हैं। मनुष्य अपनी योजनाओं के अनुरूप अपने उपकरणों का प्रयोग करता है। उनको अधिक अच्छा बनाता है और इस भाँति संभावनाओं को मूर्त रूप देने के लिए अपने समय का सक्रिय प्रयोग करता है। इसी दृष्टि से हम कहते हैं कि मनुष्य वस्तुओं एवं विषयों को एक अर्थपूर्ण विधान के रूप में समझता है, वह जगत् को बोधगम्य बनाता है। वस्तुओं का जगत् उसके लिए यंत्र का जगत् है।

अपने व्यावहारिक जीवन में जगत् को हम जो अर्थ प्रदान करते हैं तथा देश और काल में विषयों के जगत् का जो बौद्धिक विधान निर्मित करते हैं, वह व्यवहार और सिद्धांत के भेद को लक्षित नहीं करता है, वरन् जगत् की बोधगम्य संरचना के उस मूल्यांकन को लक्षित करता है जो अप्रयुक्त विज्ञान तथा दर्शन के अस्वीकृत मूर्तीकरण से उत्पन्न होती है। इसलिए यह मानना गलत होगा कि जगत् की व्यावहारिक व्याख्या और वैज्ञानिक व्याख्या में विरोध है। अपने-अपने परिप्रेक्ष्य से दोनों ही ठीक हैं, दोनों ही समान महत्त्व के हैं। जगत् की वस्तुएँ एवं जगत् की जिन वस्तुओं से मैं सबंधित हूँ, वे मेरे लिए उतनी वस्तुएँ नहीं हैं जितना कि यंत्र एवं उपकरण हैं।[2] मैं उनका उपकरण रूप में ही विकास करता हैं। ये वस्तुएँ, इसलिए, मेरे लिए विशिष्ट उपयोग की वस्तुएं

1. वे कांट के नीतिवाक्य को मान्यता नहीं देते हैं : "उस सिद्धांत के अनुसार कर्म करो जिसके बारे में तुम यह भी इच्छा कर सको कि वह एक सार्वभौम नियम बन जाए।"—कांट

2. Zeuge

3. हाइडेगर वस्तुओं के निजी अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं, वे उनकी व्यावहारिक दृष्टिकोण से व्याख्या करते हैं।

हैं और मेरी अभिरुचि के उपयोग के लिए अन्य वस्तुओं से संबंधित हैं, अथवा उनकी सार्थकता मेरे मानस के संदर्भ में है। उदाहरणार्थ, सूई सूई, डोरा, कपड़ा, कपड़ा सीने वाले तथा पहनने वाले आदि सभी को इंगित करती है। इसी भाँति जब हम कहते हैं कि कुल्हाड़ी भारी है तो भारी कहने का अर्थ यह हो सकता है कि वह बोझिल है, वजनी है अथवा उसे तौला जा सकता है। अतः किसी भी वस्तु का अर्थ उसके उपयोग से जुड़ा हुआ है क्योंकि दाज़ाइन का स्वभाव सत्ता-सामान्य-में है। विज्ञान की कमी यह है कि वह वस्तुओं को सीमित दृष्टिकोण से समझने का प्रयास करता है एवं उसका क्षेत्र सीमित है। इसी सीमित क्षेत्र के अनुरूप वह अपनी प्रणाली और मापदण्ड को निर्धारित करता है। वह जगत् की व्याख्या नहीं करता है, वरन् उसके एक विशिष्ट पक्ष पर प्रकाश डालता है। अतः वह मनुष्य की योजनाओं के संदर्भ में मूर्त विषय के अनुभवों पर प्रकाश नहीं डालता है।

दाज़ाइन एक संभावना है, वह अपने आपको प्रक्षेपित करके रहता है। उसकी योजनाएँ व्याख्याएँ हैं, ये व्याख्याएँ धारणात्मक नहीं हैं, अस्तित्ववादी हैं। मेरा जगत् के बारे में चिन्तन इस बोध से प्रेरित रहता है कि मैं मूलगत मानव-स्थिति के सामान्य आधार से इस जगत् में फेंका गया हूँ। मैं जानता हूँ कि मैं अपनी संभावनाओं में क्या हूँ तथा मेरे चारों ओर की वस्तुएँ मेरी संभावनाओं के संदर्भ में क्या हैं। जहाँ तक वस्तुओं का प्रश्न है, मैं उनका उपयोग करके उन्हें अर्थ प्रदान करता हूँ, पर साथ ही मेरा ऐसा करना वस्तुओं के स्वरूप द्वारा भी निर्धारित होता है। इसका कारण यह है कि यह जगत् एक निष्ठुर अस्तित्व का जगत् है जिसे दूसरों ने लीकबद्ध संभावनाओं में विकसित कर दिया है। अतः इस जगत् में मैं जब जो चाहूँ, नहीं कर सकता। मेरे सम्मुख सत्ता के दो विरोधी प्रकार हैं : प्रामाणिक सत्ता और अप्रामाणिक सत्ता। प्रामाणिक सत्ता मेरी अपनी स्थिति के स्पष्ट बोध पर आधारित है तथा अप्रामाणिक सत्ता संगठित जगत् के स्थापित तथा लीकबद्ध मार्ग पर यंत्रवत् कर्म करती है। किन्तु मानव-अस्तित्व की ऐसी अस्तित्ववादी व्याख्याएँ—चरितार्थ संभावनाएँ अपने आप में बौद्धिक धारणाएँ नहीं हैं, ये मानव-सत्ता के प्रकार हैं। यह संभव है कि कोई भी संभावित मानव-क्रिया बिना इस स्पष्ट चेतना के हो सकती है—मैं क्या कर रहा हूँ ? अथवा, कर्ता यदि दीवार पर कील ठोंक रहा है तो वह कील ठोंकना बन्द कर केवल हथौड़े को हथौड़े के रूप में या कील को कील के रूप में देख या समझ सकता है। यह बात स्पष्ट कर देती है कि किसी भी विषय के अर्थ को दाज़ाइन की योजनाओं को चरितार्थ करने की संभावित क्रियाओं के संदर्भ में समझा जा सकता है।

तार्किक निर्णय एवं भाषा

दाज़ाइन के संदर्भ में ही हाइडेगर तार्किक निर्णयों एवं भाषा को भी समझाते हैं। उनका कहना है कि तार्किक निर्णय अंततः अस्तित्ववादी व्याख्याओं पर आधारित होते हैं,

ये धारणात्मक व्याख्याएँ नहीं हैं। भाषा को भी हमें दाज़ाइन के संदर्भ में समझना होगा। भाषा संप्रेषण को इंगित करती है, साथ ही वह उस अस्तित्व-सामान्य को भी मूर्त करती है जो दाज़ाइन है। ऐसी भाषा दाज़ाइन की विधायक है। वह सत्य का संप्रेषण करती है एवं उसको उद्घाटित करती है। किन्तु प्रतिदिन के प्रयोग में आने वाली भाषा दुर्भाग्यवश उन विषयों से संपर्क नहीं रख पाती है जिन्हें वह प्रकट रूप में इंगित करती है और ऐसी स्थिति में वह असत्य फैलाती है, उसका स्वर आदेशात्मक हो जाता है। वह अप्रामाणिक सत्ता को स्थापित करती है। परिणामतः सच्ची सत्ता पद्च्युत हो जाती है। असत्य को सत्य मान लेने एवं सत्य को भूल जाने के कारण लोग असत्य पर संदेह नहीं करते हैं। अथवा हम अपनी मूलगत स्थिति को भूल जाते हैं. सच्चे अस्तित्ववानों से संपर्क टूट जाने के कारण हम एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर मुड़ते हैं, उपलब्धि की खोज में एक 'पूर्ण', 'बौद्धिक', 'रुचिपूर्ण' जीवन जीते हुए हम अपने से, दूसरों से तथा जगत् से विमुख एवं उन्मूलित हो जाते हैं। सच्चा जीवन जीने के लिए हमें अपनी मूलगत स्थिति को ध्यान में रखना होगा क्योंकि यही हमारे समस्त भावनात्मक, ज्ञानात्मक, एवं क्रियात्मक जीवन का आधार है।

त्रास[1]

हाइडेगर की स्थापना है कि संपूर्ण मानव अस्तित्व त्रास, चिंता या मानसिक व्यथा से आच्छादित है। त्रास के कारण ही हम अपने आपको अपने से छिपाते एवं निर्वैयक्तिक अस्तित्व के प्रकारों को अपनाते हैं। त्रास के स्वरूप[2] को समझाने के लिए वे इसके तथा भय[3] के अंतर की व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कि त्रास व्यक्ति को अत्यधिक परेशान करता है क्योंकि इसका प्रत्यक्षतः कोई विषय, कारण या उद्देश्य नहीं होता है।[4] जबकि भय का संबंध किसी पदार्थ, विषय या घटना से होता है : उदाहरणार्थ, महामारी, भूकम्प आदि हमें भयभीत करते हैं। शेर को सम्मुख देखकर हम भय से काँप उठते हैं। त्रास को हम समझना भी नहीं चाहते हैं। कोई न कोई कारण देकर इसे टालने का प्रयास करते हैं। किंतु इस भाँति टालने से न तो यह टल सकता है और न इसका विनाश हो सकता है क्योंकि यह अत्यधिक प्रामाणिक है। इसका विश्लेषण किया जा सकता है

1. Angst (dread, anxiety)

2. किर्कगार्ड ने 'त्रास' की धारणा के विश्लेषण के माध्यम से मानव भावना की गहनता को जानना चाहा। हाइडेगर भी इसी उद्देश्य से 'त्रास' का विश्लेषण करते हैं।

3. भय (Furcht)

4. इस कारण यह व्यक्ति को अत्यधिक व्याकुल और क्षुब्ध कर देता है। इसकी तीव्रता और स्पष्टता का हम अनुभव नहीं कर पाते हैं तथा कोई न कोई कारण देकर इसे भूलने की चेष्टा करते हैं। हम इसके संकेतों को समझने और उनका सामना करने के विपरीत प्रतिदिन के निर्वैयक्तिक आदेश के सामान्य बोध से अनुशासित होते हैं।

यद्यपि इसकी यह विशेषता है कि इसे हम अपनी अभिरुचि की किसी वस्तु-विशेष तक सीमित नहीं कर सकते हैं, अथवा इसका स्थान निर्धारित नहीं कर सकते हैं। यह प्रत्येक वस्तु को समान मूल्यहीनता प्रदान करता है। इस कारण जब मुझे यह लगने लगता है कि जगत् में ऐसा कुछ नहीं है जो त्रास का कारण हो, तब मैं यह मान लेता हूँ कि यह जगत् ही ऐसा है। वास्तव में तब मैं अपनी समग्रता, न कि विशिष्ट कार्यों और रुचियों के संदर्भ में, यह जान लेता हूँ कि जगत् में रहने (सत्ता होने) का क्या अर्थ है, तब मेरा यह अभि-ज्ञान त्रास को अनुप्राणित करता है।[1] ऐसी स्थिति में त्रास मुझे मेरे कार्यों की व्यस्तता से दूर कर देता है, मुझे मेरे एकांत का बंदी बना देता है और मेरे लिए यह वरण करना आवश्यक हो जाता है कि मैं अपने आप में होऊँ या नहीं। मेरी व्यक्तिगत वास्तविकता स्पष्ट हो जाती है, मैं यह वरण कर लेता हूँ कि मैं क्या होना चाहता हूँ?

त्रास मुझे जगत् में मेरे जीवन के अर्थों और अभिरुचियों से अलग कर देता है। मेरे सम्मुख दो स्पष्ट स्थितियाँ हैं: (एक), निर्वैयक्तिक ढंग से निर्धारित अप्रामाणिक अस्तित्व का जीवन; तथा (दो), एक वीरोचित प्रयास द्वारा अपने अस्तित्व का व्यक्तिगत दायित्व वाला जीवन। त्रास एक अर्थहीन, मूल्यहीन भाव नहीं है। यह एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट भाव है जो मुझे मेरे सच्चे अस्तित्व से अवगत कराता है। त्रास दाज़ाइन को उद्घाटित करता है, सत्ता के अस्तित्व के प्रकार पर प्रकाश डालता है। संपूर्ण दाज़ाइन वह अस्तित्व है जो जगत् की संभूति की स्थिति में वर्तमान है, इसके सम्मुख एक उन्मुक्त भविष्य है, होने की शक्ति है। दाज़ाइन की इस संरचना को हाइडेगर चिता[2] कहते हैं। इसके तीन तत्व हैं—(1) व्यक्तिगत अस्तित्व अपने को प्रसारित करता है (आत्म-प्रसारण) क्योंकि यह वह नहीं है जो वह है, वरन् वह है जो यह होगा। यह अभी पूर्ण नहीं है, इसे विकसित होना है, इसके सम्मुख एक उन्मुक्त भविष्य है। यह अपने होने के बारे में है—उसे 'क्या' होना है—सोचता है, यही चिंता है। (2) चिंता इस तथ्य का समावेश करती है कि मैं अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को जगत् में अपनी सत्ता के अंदर ही चरितार्थ कर सकता हूँ—क्योंकि मैं अपने आपको जगत् में फेंका हुआ पाता हूँ, मेरा विगत भी है। (3) चिंता यह भी अभिव्यक्त करती है कि मेरी सत्ता जगत् में मेरे पूर्वाधिकारों और विशिष्ट संबंधों के नियंत्रण में है, अथवा मेरी सत्ता जगत् के अन्य लोगों

---

1. हमारा व्यक्तिगत अनुभव जिस बोधगम्य जगत् का निर्माण करता है—वह जगत् जिसमें व्यक्ति सुरक्षित अनुभव करता है—जब वह खण्डित हो जाता है तब व्यक्ति 'क्या है' (न कि 'क्यों') से आक्रांत हो जाता है अथवा 'त्रास' नास्ति का अनुभव है, सत्ता का निराकरण नहीं है।

2. Sorge, care.

और वस्तुओं के साथ है। यह तीन तत्व चिंता की तीन कालिक गतियाँ हैं। यद्यपि इसका मुख्य महत्त्व इसका भविष्य (भावी जीवन) है।

मृत्यु : नास्ति : सत्ता का आनंद

चिंता मनुष्य की मूल संरचना में है; समस्त मानव-अस्तित्व एक त्रासपूर्ण चिंता या हताशा से आच्छादित है; यह मृत्यु की अनिवार्यता के बोध से स्पंदित है। सभी प्रकार के त्रास मृत्यु के त्रास हैं और मृत्यु अंत है, नास्ति है।[1] वास्तव में व्यक्तिगत अस्तित्व की अपनी कोई परमता या पूर्णता नहीं होती है क्योंकि इसे अभी होना है। इसलिए जब मृत्यु आती है तो इसकी संभावनाएँ बुझ जाती हैं। किन्तु वे खतम नहीं होती हैं। वैसे भी मृत्यु मेरे साथ एक आकस्मिक घटना के रूप में घटित नहीं होती है, यह मेरे जन्म के साथ ही मेरे अंदर एक संभावना के रूप में वर्तमान रहती है और इस संभावना का मैं अपने अंदर पोषण करता हूँ—इसे मैं, सचमुच में ही, व्यक्तिगत रूप से प्राप्त करूँगा। मृत्यु का क्षेत्र व्यापक है, यह एक ऐसी संभावना है जो अन्य संभावनाओं का विनाश कर देती है तथा उनकी आकस्मिकता पर भी प्रकाश डालती है। यदि मैं मर सकता हूँ तो मुझे जीना नहीं चाहिए था, किसी को भी जीना नहीं चाहिए था; यह बतलाता है कि व्यक्तिगत अस्तित्व नास्ति और नास्ति के मध्य है। अपनी ही मृत्यु का सामना करते हुए मैं परम नास्ति का सामना करता हूँ, एक ऐसी नास्ति का सामना करता हूँ जो अस्तित्व का अभाव मात्र नहीं है, वरन् मूलगत वास्तविकता है। मृत्यु को नास्ति से युक्त करते हुए हाइडेगर मृत्यु को वह मान प्रदान कर देते हैं जो व्यक्ति के अन-स्तित्व के परे है। जब वे कहते हैं—मनुष्य का अस्तित्व 'मृत्यु के लिए अस्तित्व' है तो इसका अर्थ यही है कि मृत्यु मनुष्य के अनस्तित्व के परे है।[2] अतः मृत्यु प्रामाणिक जीवन के लिए एक संकेत है। इसलिए मृत्यु की पूर्ण सशक्त स्वीकृत प्रामाणिक व्यक्तिगत अस्तित्व है। इसकी तुलना में अन्य सभी का अवमूल्यन हो जाता है, वे सभी आकस्मिक हैं। मनुष्य जब अपने आपको देश-काल के जगत् में फेंका हुआ अनुभव करता है, तब वह भयभीत हो जाता है। यह भयपूर्ण अनुभव उसे एक रहस्यपूर्ण नास्ति के धूमिल धरातल पर खड़े होने का आभास देता है। जब वह इस नास्ति का अस्तित्ववादी दायित्व के साथ अनुभव करता है, तब वह तात्त्विक आस्था से प्रेरित होकर सत्ता को जानना चाहता है।

हाइडेगर का दर्शन सत्ता को जानना चाहता है। उसकी समस्या 'क्या है' की समस्या है। अतः नास्ति सत्ता का निराकरण नहीं है। यह धारणात्मक अभाव या 'कुछ

---

1. das Nichts.

2. इसी तथ्य पर अथवा सत्ता की मूलगत कालिकता पर वे 'सत्ता और काल' में व्यापक तथा सुसंबद्ध विवेचन करते हैं।

नहीं' नहीं है, न यह सत्ता का विपरीत तत्त्व ही है। इसका अनुभव किया जा सकता है। यह सब प्रकार के निषेधों और अभावों का आधार है। इसलिए नास्ति सत्ता का निराकरण नहीं है, वरन् सत्ता के परिचित रूपों का निराकरण है।[1] यह सत्ताओं की नास्ति में परात्पर की उपस्थिति को पहचानना है। हम सत्ता को जानना चाहते हैं, 'क्या है' के प्रश्न को पुनर्जीवित करना चाहते हैं, इसलिए मृत्यु को स्वीकार करना, उसे अपने अस्तित्व के एक परम और नियामक संभावना के रूप में मानना जगत् से पलायन नहीं है और न यह दैनंदिन कर्मों को त्यागना ही है। यह उस अनासक्ति को प्राप्त करना है जो मेरे प्रामाणिक व्यक्तिगत अस्तित्व को शक्ति और गरिमा प्रदान करती है। अपनी सत्ता तथा संसार की विविध वस्तुओं का सामना करने का साहस एवं शक्ति हमें नास्ति के अनुभव की भावना प्रदान करती है। यह भावना कि हम अनश्वर के साथ सतत् रहते हैं, हमें अद्वितीय शांति प्रदान करती है। इस आंतरिकता या शांति के कारण हम परम सत्ता—अनश्वर—के लिए अपना सब कुछ त्याग एवं अपने दाज़ाइन (सत्ता-जगत् में) का त्याग करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। परम सत्ता की निःशब्द ध्वनि के प्रति प्रच्छन्न धन्यवाद देना ही त्याग है। सच्चा विचारक, सच्चा कवि वह है जो वास्तविक अस्तित्व के जगत् का अतिक्रमण करता है तथा अपने जीवन और विचार की संगति सत्ता के सत्य के साथ स्थापित कर लेता है। सत्ता के सत्य को प्राप्त करना अपने वास्तविक घर को प्राप्त करना है।

अंतर्बोध

हाइडेगर यह नहीं मानते हैं कि अस्तित्व का ज्ञान चेतना की क्रिया द्वारा प्राप्त हो सकता है। उनका कहना है कि यदि अस्तित्व को जानना है तो उसका उचित रूप से अंतर्बोध होना आवश्यक है, अथवा किसी भी वस्तु के सच्चे स्वभाव को जानने के लिए उसका अंतर्बोध होना आवश्यक है। प्रतिदिन के भ्रम से मुक्त होने के लिए अथवा वरण करने के लिए अंतर्बोध के आदेश को मानना होगा। अंतर्बोध की आवाज निर्वैयक्तिक शासक की आवाज है, यह वह है जिसे पिता या ईश्वर कहा जाता है, यह मनुष्य की सच्ची अंतर्ध्वनि है। अंतर्बोध मेरे अस्तित्व की संरचना में एक संभावना के रूप में रहता है। यह मेरी प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता का साक्षी है; यह मुझे आदेश देता है, मुझे प्रताड़ित करता है तथा मेरा परीक्षण करता है। यह मुझे बताता है कि मुझे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। हाइडेगर अंतर्बोध के नाम पर उस सामान्य अंतर्बोध को स्वीकार नहीं करते हैं जो अप्रामाणिक जीवन की नैतिक धारणाओं से

---

1. हाइडेगर ने 'लेटर ऑन हयूमेनिज्म' में अपने दर्शन की नास्तिवादी व्याख्या (Nihilistic interpretation) का खण्डन किया है।

परिपूर्ण है। उनका कहना है कि हमें उस अंतर्बोध के आदेश को मानना होगा जो विशुद्ध और परिष्कृत है।

ऐतिहासिकता और काल

हाइडेगर का लक्ष्य सत्ता की सामान्य समस्या को समझना है। इस दृष्टि से उन्होंने मनुष्य का विश्लेषण किया तथा इस परिणाम पर पहुँचे कि मनुष्य की सत्ता अपने आपको कालिकता में उद्घाटित करती है।[1] 'सत्ता और काल' अपने अंत में व्यक्ति की कालिकता एवं ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालता है और यह प्रतीत होता है कि अभी सत्ता की सामान्य सत्ताविज्ञानीय समस्या का समाधान होना शेष है। इस दृष्टि से हाइडेगर अभी उस दर्शन को नहीं दे पाए जिसकी 'सत्ता और काल' एक भूमिका मात्र बन कर रह गया है।[2] यह सभी ने स्वीकार किया है कि उनका दर्शन परिपक्वता प्राप्त नहीं कर पाया है यद्यपि उनकी प्रणाली अन्य अस्तित्ववादियों की तुलना में "सर्वाधिक सुनिश्चित है। उनके विचार सर्वाधिक क्रांतिकारी हैं और उनकी सत्ताविज्ञानीय अंतर्दृष्टि सर्वाधिक गहन है।"

किंतु यह तथ्य जो दूसरों को आश्चर्य में डाल सकता है, स्वयं हाइडेगर के लिए आश्चर्यजनक नहीं है। उन्होंने स्पष्टतः यह माना है तथा इसे सिद्ध करने का प्रयास भी किया है कि 'सत्ता और काल' के उद्देश्य के अनुरूप दर्शन न केवल कठिन है, वरन् जिस भाषा का हम प्रयोग करते हैं, वह भी, उसकी तुलना में, अनुपयुक्त और अविकसित है। यह एक संक्रांतिकाल है, वह काल है जिसमें पुराना अभिव्यक्ति का माध्यम बनने में असमर्थ है तथा वर्तमान भाषा सत्य को अभिव्यक्त करने में अक्षम है और नई भाषा अभी स्थापित नहीं हो पाई है।

---

1. यहाँ पर अनेक प्रश्न उठते हैं—क्या यह माना जा सकता है कि सत्ता की व्याख्या के लिए काल एक क्षितिज का निर्माण करता है, अथवा क्या यह ज्ञान की सीमा को स्वीकार कर लेना है, या क्या हम यह मान लें कि अभी हम इस सीमा के आगे जा सकते हैं।

2. 'सत्ता और काल' में वर्णित हाइडेगर की सत्ताविज्ञानीय क्रांति एक क्रांति बन कर रह जाती है जब उसे हम उन्हीं की पुस्तकों 'सत्ता और काल' तथा 'लेटर ऑन ह्यूमेनिज्म' के संदर्भों में समझने का प्रयास करते हैं। उन्होंने 'सत्ता और काल' की प्रचलित व्याख्याओं का 'लेटर ऑन ह्यूमेनिज्म' में लिखित वक्तव्यों तथा व्यक्तिगत व्याख्यानों द्वारा खण्डन किया है और साथ ही उस दर्शन का अभी प्रतिपादन नहीं किया जिसका उन्होंने संकल्प किया था।

मूल्यांकन

'लेटर ऑन ह्यूमेनिज्म' में हाइडेगर अपने दर्शन की अनीश्वरवादी व्याख्या का विरोध करते हैं। उनके अनुसार मनुष्य को अस्तित्ववादी व्याख्या न तो ईश्वर को स्वीकार करती है और न अस्वीकार ही। इसका कारण यह है कि ईश्वर के अस्तित्व की समस्या तथा मनुष्य के अस्तित्ववादी विश्लेषण का वैचारिक स्तर एक नहीं है। ईश्वर के अस्तित्व की समस्या को हम केवल 'परम पावन' के स्तर पर उठा सकते हैं। आधुनिक व्यक्ति सांसारिकता एवं दैनंदिन जीवन के कार्य-व्यापारों में इतना व्यस्त है कि वह 'परम पावन' के स्तर में नहीं जी पाता है, वह 'परम पावन' के प्रति उन्मुक्त नहीं है। उसकी विचित्र स्थिति है। ईश्वर की परम्परावादी व्याख्या उसके मानस के लिए कोई मूल्य नहीं रखती है अथवा ईश्वर की ईसाई धारणा उसे स्वीकार नहीं है। इस दृष्टि से 'ईश्वर की मृत्यु' द्वारा वह केवल परम्परागत ईश्वर को अस्वीकार करता है, न कि ईश्वर को। अतः हाइडेगर का दर्शन अनीश्वरवादी नहीं है. वह ईश्वर की प्रतीक्षा, दिव्य की नई अभिव्यक्ति की प्रतीक्षा का दर्शन है। वे मात्र यह समझाते हैं कि दर्शन ईश्वर के अस्तित्व को स्थापित करने में असमर्थ है। वह ईश्वर को जगत् का आधार अथवा धार्मिक गुणों से युक्त प्रमाणित नहीं कर सकता है। दार्शनिक अनुसंधान के लिए ईश्वर अगम्य है, दर्शन का क्षेत्र सत्ता है। इसलिए ईश्वर के अस्तित्व की समस्या को उठाने के पूर्व हमें प्रश्न करना होगा—सत्ताओं की सत्ता क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए मनुष्य के विश्लेषण से प्रारंभ करना होगा, क्योंकि वह सत्ता के लिए उन्मुक्त है। दर्शन का कर्तव्य है कि वह मानव-सत्ता का उचित ज्ञान प्राप्त करे ताकि उसके संदर्भ में हम मानव-सत्ता और सत्ताओं की सत्ता के संबंध को जान सकें। हाइडेगर के दर्शन का महत्व इस पर नहीं है कि उन्होंने किसी सत्ताविज्ञानीय समस्या का समाधान किया है, वरन् इस पर है कि उन्होंने सत्ताविज्ञानीय चिंतन को मानव-सत्ता से युक्त कर उसे स्वेच्छित आकर्षक शब्दावली एवं नवीन रूप (अस्तित्ववादी) प्रदान किया है।

———

सार्त्र

जीवन एवं भोगा हुआ यथार्थ

सार्त्र[1] का जन्म पेरिस में हुआ। उनके परिवार की कोई निश्चित धार्मिक परंपरा नहीं थी। उन्होंने जिस दायधन को प्राप्त किया, वह है प्रोटेस्टैण्ट और रोमन कैथोलिक मतों का सम्मिश्रण। अपने माता-पिता की स्नेहिल छाया से बचपन में ही वंचित हो जाने के कारण उन्हें अपने ननिहाल में रहना पड़ा। पेरिस विश्वविद्यालय के 'टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज' में प्रवेश पाने के पूर्व तक वे अपने नाना के साथ 'ला रोशेल' में रहे। दर्शन के शोधछात्र के रूप में वे सन् 1934 में बर्लिन गए और हुजर्ल के भाषणों को सुना। पेरिस वापस आकर वे दर्शन के अध्यापक हो गए। इसी बीच द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया और सन् 1939 में उन्हें सेना में भरती होना पड़ा। फ्रांसीसी सेना के आत्मसमर्पण करने पर सन् 1940 में सार्त्र बंदी हो गए, किन्तु नौ माह बाद एवं सन् 1941 में उन्हें अस्वास्थ्य के कारण छोड़ दिया गया। फिर उन्होंने अपनी स्वतंत्रता का उपयोग अपने स्वतंत्रता के दर्शन का प्रतिपादन करने के लिए किया। उन्होंने न केवल अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्ता और अनस्तित्वता'[2] का प्रणयन एवं प्रकाशन किया, वरन् 'रिज़िस्टेन्स मूवमेन्ट' की टोली का भी निर्देशन किया। सन् 1941 से सन् 1944 तक वे इस टोली के सक्रिय कार्यकर्त्ता रहे।

सार्त्र के दर्शन में हमें आधुनिक फ्रांसीसी बुद्धजीवी का प्रतिरूप मिलता है और मिलती है उनकी तीक्ष्ण प्रतिभा। सार्त्र ने अपनी समकालीन स्थिति का अनुभव किय; उसे देखा, समझा और परखा तथा उसका विश्लेषण किया। परिणामतः उन्हें मानव समाज की ध्वंसात्मक और निषेधात्मक शक्तियों का परिचय मिला। सार्त्र जिस युग के फ्रांसीसी जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं और जिसके कारण अस्तित्ववाद के इतिहास में उनका विशिष्ट स्थान है, वह है आत्म-अलगाव का युग। फ्रांस के लोगों, विशेषकर बुद्धिजीवियों ने जिस संघर्ष, यातना और त्रास का जीवन जिया, वह अपने आप में एक गाथा है। तानाशाह आक्रमणकारियों के अमानवीय राज्य में क्रूरता और नृशंसता ने फ्रांस के लोगों का मृत्यु से साक्षात्कार करा दिया था। प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रत्येक क्षण मृत्यु का संदेशवाहक था। विश्वयुद्ध द्वारा उत्पन्न ऐसी परिस्थिति में आत्म-अलगाव अपनी चरमता पर पहुँच गया। व्यक्ति के लिए यह स्थिति ही स्वाभाविक स्थिति हो गई थी। उस पर सब ओर से दबाव ही दबाव था। बेचारा

---

1. Jean Paul Sartre (जाँ पाल सार्त्र) (1905-1979), फ्रांसीसी दार्शनिक, अंग्रेजी में अनुदित महत्त्वपूर्ण कृतियाँ :

Being and Nothingness (1956); Existentialism and Humanism (1947); The Psychology of Imagination (1948); Literary and Philosophical Essays (1962); Nausea (1949)

2. L' Etree et aa Ne'ant (Being and Nothingness); Trans. Hazel E. Barnes—NewYork, 1949.

व्यक्ति बेचारा बन कर रह गया। वह स्वयं अपने प्रति पराया हो गया। और यह आत्म-अलगाव की वह असह्य स्थिति थी जिसने सार्त्र के दर्शन को अस्तित्ववाद में एक विशिष्ट स्थान प्रदान कर दिया। सार्त्र के लिए आत्म-अलगाव भोगा हुआ कटुतम सत्य है, यह उनके दर्शन में एक जीवंत अनुभव है, चिंतन अथवा बौद्धिक विश्लेषण द्वारा प्राप्त तत्व नहीं है। वैसे उनका अस्तित्ववाद हेगेल के दर्शन से गहनतापूर्वक प्रभावित है। हुज़र्ल[1] और हाइडेगर[2] के दर्शन का भी व्यापक प्रभाव उसमें परिलक्षित होता है।[3] किन्तु इन प्रभावों के अतिरिक्त उनके अस्तित्ववादी दर्शन का वह प्रमुख स्वरूप है जिसे उन्होंने स्वयं ही साँचे में ढाला, अपने प्रतिपाद्य का प्राध्यापकीय गंभीरता के साथ विवेचन किया। उन्हें यह भी श्रेय देना होगा कि उन्होंने अस्तित्ववाद के तात्विक एवं मूलगत सिद्धान्त को सुसम्बद्ध रूप से समझाने का प्रयास किया है। निःसंदेह वे अस्पष्ट

1. हुज़र्ल के इस कथन को उन्होंने स्वीकार किया कि वास्तविक जगत् से दर्शन का संपर्क स्थापित करने के लिए हमें 'वस्तुओं की ओर वापस लौटना' होगा। उन्होंने उनकी वर्णनात्मक प्रणाली को भी स्वीकार किया, पर दोनों में अंतर भी है। हुज़र्ल के दृश्यमानवाद के दो रूप हैं : (एक) दृश्यमानवादी रूप—इसका प्रमुख स्वर है, 'वस्तुओं की ओर लौटो' तथा (दो) अनुभवातीत या परात्परवादी रूप। यहाँ पर सार्त्र हाइडेगर के साथ सहमत हैं कि हुज़र्ल के परात्परवादी प्रत्ययवाद (Transcendental Idealism) को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अस्तित्ववाद का केन्द्र मनुष्य है। उसे मनुष्य एवं चेतना और जगत के संबंधों पर प्रकाश डालना है। अतः अनुभवातीत को अपना कर अस्तित्ववाद जी नहीं सकता है क्योंकि अनुभवातीत को अपनाना जगत् की अवहेलना करना है। हुज़र्ल ने अपने दृश्यमानवाद को ज्ञानमीमांसीय रूप दिया तथा विषयी एवं चेतना के ज्ञाता स्वरूप को विशेष महत्व दिया। सार्त्र हाइडेगर के साथ यह स्वीकार करते हैं कि हम विषयी और विषय के भेद को, जो हुज़र्ल की दृश्यमानवादी प्रणाली एवं इपाकी के सिद्धान्त पर आधारित है, स्वीकार नहीं कर सकते। यह जगत् की अवहेलना करना है। जगत् की सत्ता पर न हम संदेह कर सकते हैं और न उसकी उपेक्षा ही कर सकते हैं। उनके अनुसार विषय और विषयी (नोएमा और नोएसिस) का भेद न केवल दर्शन के लिए घातक है, वरन् दृश्यमानवादी सिद्धांत के भी प्रतिकूल है। जगत् की सत्ता को प्रमाणित या स्वीकार करने के लिए न हमें डेकार्ट के बौद्धिक संदेहवाद की आवश्यकता है और न इपाकी के सिद्धांत की। हुज़र्ल ने, वास्तव में, विषय और विषयी के भेद द्वारा विषयी को मूलगत वास्तविकता माना और विषय (जगत्-आभास) को उसकी संरचना माना। सार्त्र एवं अस्तित्ववाद ऐसे भेद को स्वीकार नहीं कर पाया। वह मानव-व्यवहार की समस्याओं और चेतना को उसके क्रियाशील रूप में समझने का प्रयास करता है।

2. हाइडेगर और यास्पर्स ने जिन दो भिन्न प्रकार के अस्तित्ववाद की नींव डाली थी, वह सार्त्र के अनीश्वरवाद और मार्सल के ईश्वरवाद में विकसित हो गई।

3. वे मार्क्स और फ्रायड से भी प्रभावित हैं। उन्होंने अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण देने का प्रयास किया है।

और अपरिचित शब्दावली और मुहावरों का प्रयोग करते हैं, किन्तु उनके प्रतिपादन का ढंग ऐसा है कि उनका दर्शन सुगम हो जाता है। साथ ही सार्त्र ने अस्तित्ववाद का इतने जीवंत और प्रभावशाली विधि से प्रतिपादन किया कि वह अत्यधिक लोकप्रिय बन गया तथा शिक्षित वर्ग इसके प्रति वेगपूर्वक आकर्षित हो गया। इसका एक मुख्य कारण यह भी है कि सार्त्र दार्शनिक होने के साथ ही साहित्यिक भी हैं अथवा साहित्य के माध्यम से—नाटकों और उपन्यासों—उन्होंने अस्तित्ववाद को शिक्षित वर्ग तक पहुँचाया। वे युवा पीढ़ी की अभिरुचि और वाद-विवाद का केन्द्र रहे हैं। यदि कुछ उनके प्रशंसक और भक्त हैं तो कुछ निंदक एवं खड्गहस्त आलोचक।[1] जहाँ तक उनके अस्तित्ववादी दर्शन का प्रश्न है, उसमें अस्तित्ववाद के तात्विक सिद्धात का स्पष्टोकरण है। उनके दर्शन एवं कृतियों में चार बातें स्पष्ट हैं। एक—निरीश्वरवाद अथवा निरीश्वरवादी मानववाद; दो—स्वतंत्रता का बोध; तीन—समस्त विशिष्ट अस्तित्वों की अपरिहार्यता, अबौद्धिकता और व्यर्थता; तथा चार—'एन सोइ और पोर सोइ' एवं भौतिक पदार्थ तथा चेतना का भेद। इन चारों के मूल में है उनका भोगा हुआ जीवन।

प्रतिरोध में स्वतंत्रता का बोध तथा अस्तित्व और उसकी निरर्थकता (निस्सारता)

सार्त्र के दर्शन को समझने के लिए 'बीइंग एण्ड नथिंगनेस' के अतिरिक्त 'द रिपब्लिक ऑफ साइलेन्स' तथा उनके प्रारंभिक उपन्यास 'राक्वेन्तिन की डायरी' एवं 'नौशिया' का अध्ययन-मनन भी आवश्यक है क्योंकि इनमें निहित 'प्रतिरोध में स्वतंत्रता का बोध' तथा 'अस्तित्व की निरर्थकता' उनके दर्शन की कुंजी है। यह सिद्धांत बीसवीं शती के चौथे दशक के प्रारंभ में जीने वाले उस व्यक्ति के जीवन पर प्रकाश डालते हैं जो मृत्यु का निकट से अनुभव कर रहा है, संत्रस्त होकर देख रहा है कि किसी भी क्षण मृत्यु उसे लील लेगी। यह अनुभूति सत् और असत् के उस बोध को जन्म देती है जो सत् को असत् से एक स्थायी संभावना के रूप में युक्त देखता है—भोक्ता इस जीवंत अनुभूति को भोगता है कि असत् एवं अनस्तित्वता एवं 'कुछ नहीं' सत् का पीछा कर रही है और उसे उसकी स्वतंत्रता के प्रति उद्बुद्ध कर देती है।

1. सार्त्र की विचारधारा को उपेक्षणीय सिद्ध करने के लिए इन आलोचकों ने उन्हें 'काफी हाउस का चिन्तक' अथवा 'कहवाघर का दार्शनिक' कहा। किन्तु सार्त्र की विचारधारा की इस भाँति उपेक्षा करना संभव नहीं है। यदि किसी विचारधारा का चिंतन पुष्ट हो, उसमें मनुष्य के लिए दृढ़ अवलंब हो अथवा वह जीवन (चाहे सामयिक) को प्रतिबिंबित करता हो तो वह इतिहास में अक्षुण्ण रहेगी।

'रिपब्लिक ऑफ साइलेन्स' में सार्त्र कहते हैं, "हम कभी भी उतना अधिक स्वतंत्र नहीं थे जितना जर्मन आधिपत्य के दिनों में। हम अपने सभी अधिकार, यहाँ तक कि बोलने का अधिकार भी, खो चुके थे। प्रतिदिन खुली आँखों अपना अपमान देखते और इसे मौन रहकर सहना पड़ता।···सब कहीं,···हम अपनी वह निराश, और निर्जीव शक्ल देखते जो हमारे विजेता दिखाना चाहते थे। और इसी सब-कुछ के चलते हम स्वतंत्र थे।···चूँकि सर्वशक्तिशाली पुलिस हमारी जबान बंद करने की कोशिश में थी, इसलिए हर शब्द सिद्धांत की घोषणा था। चूँकि पुलिस निरन्तर हमारे पीछे पड़ी थी, इसलिए हर मुद्रा एक शांत संकल्प या प्रतिश्रुति थी।...देश-निकाला, कैद और खासतौर से मौत (जिन्हें हम खुशी के दिनों में भोगने से कतराते हैं), हमारे लिए आदत की चीजें बन गयीं। हमने जाना कि वे चीजें न तो अपरिहार्य घटनाएँ हैं, न स्थिर और शाश्वत खतरे, फिर भी ये हमारी नियति हैं,...हर क्षण हम इस सामान्य कथन को पूर्ण अर्थ के साथ जीते रहे कि 'मनुष्य नाशवान् है।' और हममें से प्रत्येक ने जिन्दगी का जो चुनाव किया वह एक सही चुनाव था, क्योंकि वह मौत के आमने-सामने खड़े होकर किया गया।... और मैं यह सिर्फ उन बौद्धिकों के बारे में नहीं कह रहा, जो प्रतिरोध-आन्दोलन में शामिल थे, बल्कि उन तमाम फ्रांसीसी जनता के बारे में भी जो चार वर्षों तक रात-दिन कभी भी, किसी क्षण सिर्फ 'नहीं' कहने के लिए तैयार रही।··· ···हममें से सभी, जो प्रतिरोध-आन्दोलन के बारे में थोड़ा-बहुत भी जानते थे, अपने से ही पूछते थे, 'यदि उन्होंने बेइन्तहा सताना शुरू किया तो क्या मैं खामोश रहने में कामयाब हो सकूँगा?'

"इस तरह स्वतंत्रता का मौलिक प्रश्न उपस्थित हुआ और हम उस वेदी पर खड़े हो गए जहाँ उस गंभीरतम ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो एक मनुष्य खुद अपने से ही पा सकता है। क्योंकि मनुष्य जीवन के रहस्य उसका ईडिपस 'कॉम्प्लेक्स' या हीन-ग्रंथि नहीं है, वरन् यह उसकी निजी स्वतंत्रता की तथा मौत और अत्याचारों को सहने की शक्ति की सीमा है।"

"फरार रहकर छिपे तौर से प्रतिरोध आन्दोलन का कार्य करने वालों के लिए यह लड़ाई भिन्न प्रकार की थी। वे सैनिक की भाँति खुले में नहीं लड़ते थे।......हृदय की अन्यतम ऐकान्तिकता में जिनकी वे रक्षा कर रहे थे वे दूसरे ही थे, वे साथी थे जो उनके साथ प्रतिरोध आन्दोलन में काम कर रहे थे। पूर्ण ऐकान्तिकता में पूर्ण उत्तर-दायित्व—क्या यही स्वतंत्रता की भी परिभाषा नहीं है?"[1]

सार्त्र का तत्वदर्शन एक मूर्त स्थिति से उपजता है, एक मूर्त अथवा यथार्थ स्थिति को अभिव्यक्ति देता है। अतः यह किसी तार्किक स्थिति के विरोध में उत्पन्न नहीं होता

1. डॉ० शिव प्रसाद सिंह द्वारा अनुदित—आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद (नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली)। 1973 पृ० 87-89

है। यहाँ पर हुज़र्ल के स्थगन सिद्धान्त अथवा इपाकी का विस्मरण नहीं कर सकते हैं, वरन् यह मानना होगा कि इसके विरुद्ध सार्त्र का अस्तित्ववाद विशिष्ट अस्तित्वों की आकस्मिता, अबौद्धिकता और निरर्थकता को सिद्ध करता है। निरर्थकता की भावना मनुष्य के मन को आप्लावित किए है। यह उसके अनुभव को विकृत करती है तथा उसमें उबकाई उत्पन्न करती है। 'नौशिया' सार्त्र के ऐसे अस्तित्ववादी दृष्टिकोण पर प्रकाश डालता है। अस्तित्व का अर्थ है, कहीं रहना। जगत् में कुछ भी पूर्वनिर्धारित नहीं है। सर्वत्र निरर्थकता है। अस्तित्व अपने किसी भी रूप में—सजीव या निर्जीव—निरर्थक है। रोकांता (राक्वेन्तिन) की डायरी द्वारा सार्त्र ने अस्तित्व अथवा संसार की निरर्थकता पर प्रकाश डाला है। सांसारिक दृष्टि से रोकांता का जीवन सुखी होना चाहिए—वह अविवाहित है, दायित्वमुक्त है। किन्तु उसका जीवन अपने आप में अत्यंत दुःखी, एकांकी, असंतुष्ट और पीड़ाग्रस्त है। मानसिक संघर्ष से आक्रांत होने के कारण वह सारे संसार को निरर्थक और संगतिविहीन अनुभव करता है। यहाँ की प्रत्येक वस्तु, यहाँ के सभी लोग उसे अर्थहीन लगते हैं। एक दिन घूमते-घूमते वह एक सार्वजनिक पार्क पहुँचता है। चेस्टनट वृक्ष की काली जड़ को देखकर उसके मन में अनेक विचार उठते हैं। "निरर्थकता की यह धारणा मेरे मन में न थी, न तो यह किसी आवाज में थी, बल्कि यह एक लम्बे, सर्द, काठ के बने गेंडर वाले साँप की तरह फन काढ़े मेरे पैरों के पास ही थी—एक साँप या पंजा या भयानक नाखून या जड़ या कुछ भी कहें। बिना किसी निष्कर्ष या धारणा के मैं जान गया कि मुझे अस्तित्व की, उबकाई की या मेरे जीवन की कुंजी मिल गयी है और सच, उसके बाद से जो भी चीजें मैंने समझीं, वे सभी इसी निरर्थकता की श्रेणी में आती हैं।"[1]

निरीश्वरवाद: अस्तित्व एवं सारतत्व

सार्त्र के 'अस्तित्ववाद' का सत्तामूलक आधार वाक्य निषेधात्मक और निरीश्वरवादी है। अस्तित्ववाद की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं, "अस्तित्ववाद अन्य कुछ नहीं है, वरन् एक सुसंयोजित निरीश्वरवादी स्थिति से सभी निष्कर्षों को उत्पन्न करने का प्रयास है।"[2] स्पष्ट ही अस्तित्ववाद की सात्रीय व्याख्या[3]

1. Nausea : Trans. by L loyd Alexander (NewYork, 1949) (अनु० शिवप्रसाद सिंह)

2. Existentialism: trans. by B, Frechtman, p. 60.

3. सार्त्र ने अस्तित्ववाद के दो रूप माने हैं—ईसाई धर्म से युक्त अस्तित्ववाद और उससे मुक्त अस्तित्ववाद। अपने अस्तित्ववाद के बारे में उनका कहना है कि उनके अस्तित्ववाद को ईसाइयत से युक्त नहीं करना चाहिए। मार्सल उनके ऐसे कथन से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार अस्तित्ववाद का अपना स्वतंत्र रूप है, यह वह स्वरूप है जिसे वे भी स्वीकार करेंगे जो अपने आप को ईसाई नहीं मानते हैं। इसलिए अस्तित्ववाद के ईसाई स्वरूप को महत्व देना अथवा उसके दो रूप मानना अनुचित है।

निरीश्वरवादी तथा धर्म-निरपेक्ष है। निरीश्वरवाद की दृष्टि से सार्त्र अपने गुरु हाइडेगर
के ऋणी हैं। दोनों ही निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद के समर्थक हैं। दोनों में अंतर भी है—
सार्त्र असंदिग्ध रूप से निरीश्वरवादी हैं और हाइडेगर निरीश्वरवाद तथा ईश्वरवाद के
मध्य मंडराते हैं। सार्त्र को अपने निरीश्वरवाद का सूत्र नीत्शे से मिला[1]—नीत्शे के
कथनों, 'ईश्वर मर गया है', 'पुराना ईश्वर मर गया है' ने उन्हें प्रेरणा प्रदान की है।
ईश्वर उनके लिए है ही नहीं, वह मात्र पौराणिक कथाओं का नायक है। स्वयं सार्त्र अपने
अस्तित्ववाद को अविरत या सुसंगत निरीश्वरवाद और मानववाद के रूप में समझाते
हैं। उनके अनुसार मनुष्य की सत्ता को समझने के लिए हमें किसी ईश्वर की आवश्यकता
नहीं है, वरन् मनुष्य की स्वतंत्रता यह घोषित करती है कि ईश्वर नहीं है। यदि ईश्वर
होता भी तो मनुष्य की स्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ता क्योंकि तब भी मनुष्य परम रूप
से स्वतंत्र ही रहता और स्वतंत्र रहने के कारण उत्तरदायित्व से युक्त रहता। सार्त्र का
निरीश्वरवाद दो तथ्यों पर प्रकाश डालता है: (1) ईश्वर का प्रत्यय आत्म-विरोधी है,
असंगत है, हम उसे तर्क द्वारा नहीं समझा सकते हैं तथा (2) मनुष्य एवं उसकी
स्वतंत्रता ही मूलगत सत्य है। उनके अनुसार धार्मिक विश्वास और धर्मविज्ञानीय
सिद्धान्त विशुद्ध पौराणिक बातें हैं।

अपने ऐसे मूलगत निरीश्वरवाद के आधार पर वे अनेक निष्कर्षों पर पहुँचते हैं।
विशेषकर इस निष्कर्ष पर कि अस्तित्व सारतत्व के पूर्व है। सार्त्र का यह निष्कर्ष, उनकी
अस्तित्ववादी दृष्टि, स्पष्ट ही ईश्वरवादियों के इस कथन को स्वीकार नहीं कर सकती कि
सारतत्व अस्तित्व के पूर्व है। वे धर्मविज्ञान की आलोचना करते हुए कहते हैं कि धर्मविज्ञान
ईश्वर के अस्तित्व का अनुमान उसके स्वरुप एवं सारतत्व के आधार पर करता है
अथवा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए धर्मविज्ञान सत्ताविज्ञानीय तर्क प्रस्तुत
करता है। सार्त्र ऐसे ईश्वरवादी सत्ताविज्ञान को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका सत्ता-
विज्ञान निरीश्वरवादी है और वह अस्तित्व तथा सारतत्व के धर्मविज्ञानीय संबंध को भी
स्वीकार नहीं करता है। धर्मविज्ञान एवं ईश्वर-विज्ञान सारतत्व को प्राथमिकता प्रदान
करता है, क्योंकि वह मानता है कि अस्तित्व सारतत्व के पश्चात् है—सारतत्व अस्तित्व का
पूर्वगामी है। सार्त्र के निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद को ऐसी स्थापना मान्य नहीं है। उनका
कहना है, "पहले अस्तित्व है तब सारतत्व है।" सारतत्व की तुलना में अस्तित्व को
अत्यधिक महत्व देने के क्रम में वे सारतत्व का निराकरण कर देते हैं। "यदि ईश्वर का
अस्तित्व नहीं है तो कम से कम एक सत्ता ऐसी है जिसमें सारतत्व के पहले अस्तित्व

1. सार्त्र का बुद्धिवाद का विरोध भी अपने रूप और विषयतत्व में नीत्शे की याद
दिलाता है।

है। यह सत्ता किसी धारणा द्वारा परिभाषित होने के पूर्व है, और यह सत्ता मनुष्य
है।"[1] अस्तित्ववादियों की भाँति वे मनुष्य को उसके मानवीय संदर्भ में समझना चाहते
हैं। मनुष्य को उसी की मूर्त परिस्थिति में समझना होगा। हमें उसे तथा उसकी
समस्याओं को समझने या समझाने के लिए किसी अनुभवातीत सत्य अथवा ईश्वर की
सहायता नहीं लेनी चाहिए। हमें उसकी समस्याओं को उसी के धरातल पर सुलझाना
चाहिए। सृष्टिकर्ता ईश्वर को स्वीकार कर लेने पर मानव-स्वातंत्र्य के लिए कोई स्थान
नहीं रह जाता है।

सार्त्र की यह सत्ताविज्ञानीय क्रांति, अपने आप में, कितनी ही प्रभावशाली क्यों
न हो, इसने तर्कबुद्धि एवं विवेक का विरोध किया है। यह उस सारतत्व को अपदस्थ
कर देती है जो बौद्धिक और विवेकसम्मत जिज्ञासा का क्षेत्र है। सत्ताविज्ञान के स्तर
पर अस्तित्व को प्रतिष्ठित करना अबुद्धिवाद[2] को प्रतिष्ठित करना है, क्योंकि
अस्तित्व को बुद्धि नहीं समझ पाती है, यह उसके लिए गूढ़ है। सार्त्र का अस्तित्ववाद
ईश्वर को नहीं मानता है, वह मानवता को मानता है।[3] इस दृष्टि से वह मार्क्सवाद
एवं कम्युनिस्ट पार्टी से सहानुभूति रखता है, किन्तु यह सहानुभूति अपनी विशिष्टता
रखती है। वे उसी सीमा तक साम्यवादी हैं जहाँ तक कि व्यक्ति, और विशेष रूप से
सर्वहारा की स्वतंत्रता का प्रश्न है। सर्वहारा को महत्व देते हुए वे व्यक्ति की स्वतंत्रता
को भुला नहीं देते हैं, वरन् उसे अत्यधिक प्रमुखता प्रदान करते हैं। यह कहना उचित
होगा कि सार्त्र के दर्शन का आधार द्वंद्वात्मक भौतिकवाद नहीं है, व्यक्ति की स्वतन्त्रता
है। व्यक्ति की स्वतंत्रता, सार्त्र के निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद में, वह महत्वपूर्ण तथ्य है
जो साम्यवाद की विरोधी है।

सभी अस्तित्ववादी दार्शनिकों की भाँति सार्त्र ने भी सिद्ध किया कि अस्तित्व
और सारतत्व में भेद है तथा सत्ता के मूल में सारतत्व नहीं है, अस्तित्व है।
उनकी यह स्थापना हमें सत्ताविज्ञानीय स्तर से उनके दर्शन के मानववादी स्तर पर
ले आती है। वास्तव में उन्होंने साम्यवाद, धर्म, परम्परा सभी का मानववादी
मूल्यांकन किया है। धर्म और परम्परा को वे स्वीकार नहीं कर पाए, पर साम्यवाद के
सर्वहारा के कल्याण के सिद्धान्त ने उन्हें उनके ही ढंग से प्रभावित किया है। उनके
मानववाद एवं निरीश्वरवादी अस्तित्ववाद को समझना उनकी दी हुई मनुष्य की
व्याख्या[4] को समझना है। उन्होंने मनुष्य की जो व्याख्या दी है वह उनके सत्ताविज्ञान
का ही परिणाम है तथा उनके दर्शन का एक प्रभावशाली महत्वपूर्ण अंग है।

1. Existentialism, p. 18.
2. Irrationlism.
3. स्वयं सार्त्र का कहना है कि उनका अस्तित्ववाद एक ओर निरीश्वरवाद से सुसंगत है तथा दूसरी ओर मानववाद से।
4. सार्त्र के दर्शन में मनुष्य की धारणा से जुड़े हुए तीन तत्व हैं: चेतन-विषयीनिष्ठता (Conscious Subjectivity), स्वतंत्रता (freedom) और अनस्तित्वता (Nothingness)।

अस्तित्व : पोर-सोइ, एन-सोइ तथा ज्ञान का सिद्धांत

हाइडेगर की भाँति सार्त्र ने भी अस्तित्ववाद को हुज़र्ल के दृश्यमानवाद से युक्त किया है। उन्हीं की भाँति वे भी वर्णनात्मक एवं दृश्यमानवादी प्रणाली का प्रयोग करते हैं। अस्तित्ववाद की दृष्टि से सार्त्र ने यह कोई नयी बात नहीं की क्योंकि सभी अस्तित्ववादियों ने वर्णनात्मक प्रणाली का प्रयोग किया है। अंतर यह है कि सार्त्र ने इस प्रणाली को व्यापक तौर पर अपनाया है तथा यह समझाया है कि वर्णन में किसका समावेश करना चाहिए, क्या वास्तव में दृश्यमान है ? यहाँ पर भी अन्य अस्तित्ववादियों की भाँति सार्त्र की अभिरुचि अनुभव के उन मूर्त तत्वों के प्रति है जो हमारे लिए व्यक्त हैं। अतः उनके दर्शन में कांट के परमार्थ तत्व एवं प्रत्ययवाद के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है। सार्त्र दृश्यमान तथा परमार्थ तत्व के भेद को भी स्वीकार नहीं करते हैं। कांट के विपरीत वे न केवल दृश्यमान को ही सत्य मानते हैं, वरन् यह कहते हैं कि यही समस्त भावात्मक वास्तविकता है। सार्त्र के अनुसार दृश्यमान किसी परमार्थ तत्व का प्रतिभास नहीं है। दृश्यमान का संबंध चेतन व्यक्ति से है और वह उसके लिए अपने पूर्णरूप में व्यक्त होता है। यहाँ पर सार्त्र और हुज़र्ल में स्पष्ट भेद परिलक्षित होता है। हुज़र्ल का कहना है कि अनुभवातीत आत्मा (transcendental ego) दृश्यमान के अर्थ और सार्थकता को निर्धारित करती है। सार्त्र अनुभवातीत आत्मा को कल्पना की उपज मानते हैं और कहते हैं कि दृश्यमान का अर्थ मानव-चेतना द्वारा ही निर्धारित किया जाना चाहिए। वे मानव-चेतना को न तो व्यक्तिगत एवं आत्मनिष्ठ मानते हैं और न वस्तुनिष्ठ। वह असत् है, अवस्तु है।

हुज़र्ल ने दृश्यमान जगत् को सत्य मानते हुए यह कहा है कि दर्शन का मुख्य लक्ष्य दृश्यमान के अर्थ का विश्लेषण करना है। दृश्यमान (Phenomena) शब्द का प्रयोग हुज़र्ल ने व्यापक अर्थ में किया है। इसके अंतर्गत वे उन सभी को ले लेते हैं जो दृश्य या ज्ञेय रूप (विषय) में व्यक्त होते हैं। इसी कारण वे कहते हैं कि दृश्यमान—ज्ञेय वस्तु—की सार्थकता मानव-चेतना के संबंध में ही है अथवा दृश्यमान का विश्लेषण ही उसके अस्तित्व की स्वीकारोक्ति है। चेतना से स्वतंत्र एवं भिन्न दृश्यमान के बारे में न तो हम अस्तिवाचक निर्णय दे सकते हैं और न नास्तिवाचक। हुज़र्ल पदार्थ और चेतना दोनों के ही अस्तित्व को स्वीकार करते हैं यद्यपि उन्होंने महत्व पदार्थों को दिया है।[1] चेतना का विकास वे, मार्क्सवाद की भाँति, भौतिक पदार्थ से नहीं मानते हैं। उन्होंने चेतना की स्वायत्तता की तो रक्षा की है, पर साथ ही, यह भी मान लिया है कि चेतना बिना वस्तुओं के शून्य है एवं विशुद्ध चेतना का अस्तित्व नहीं है। इसलिए चेतना का

1. सार्त्र पदार्थों की तुलना में चेतना को महत्व देते हैं।

सही अर्थ है : विभिन्न भावों और वस्तुओं की चेतना। अतः केवल भावों और वस्तुओं का अस्तित्व है। यह सार्त्र के दर्शन के 'एन सोइ' (सत्ता स्वयं में) तथा 'पोर सोइ' (सत्ता अपने लिए) को समझना है। सार्त्र अस्तित्व को मूलगत मानते हैं। अस्तित्व के दो रूप हैं : सत् और असत्। सत् अथवा 'एन सोइ' और असत् अथवा 'पोर सोइ'। वस्तुएँ एवं भाव सत् हैं, चेतना असत् है। 'सत्ता स्वयं में' एवं सत् चेतन नहीं है। 'सत्ता अपने लिए' एवं असत् से सार्त्र का अभिप्राय उससे है जिसे हम सामान्यतः चेतना कहते हैं। यह अनिवार्यतः सीमित और संभाव्य है। मानव का अस्तित्व 'सत्ता अपने लिए' है और वस्तु जगत् का अस्तित्व 'सत्ता स्वयं में' है। जगत् एक पूर्ण स्थायी संज्ञा है। मानव का अस्तित्व एवं मेरा अस्तित्व संभावनाओं के कारण गतिशीलता और अपूर्णता एवं अधूरेपन को अपनाए है।

चेतना तथा उसके विषय मूलतः अस्तित्व के ही दो रूप हैं, किंतु उनमें एकता या संगति नहीं है, पूर्ण पार्थक्य है। ज्ञान के स्वरूप की व्याख्या करते हुए सार्त्र चेतन विषयी और चेतना के विषय के भेद पर प्रकाश डालते हैं। एक ओर चेतन विषयी है और उसके साथ सहवर्ती आत्म-चेतना है तथा दूसरी ओर विषय है। ज्ञान की दृष्टि से चेतन विषयी 'पोर सोइ' है क्योंकि वह प्रत्येक चिंतनशील आत्म-चेतना के प्रत्येक कर्म में अपने लिए अस्तित्व रखता है। यदि विषय को उन समस्त अर्थों, व्याख्याओं और संदर्भों से अलग कर दें जिनसे विषयी ने उसको युक्त किया है तो विषय एवं सत्ता स्वयं में एब्सर्ड है, निराधार, निरर्थक प्रलाप है। विषयी और विषय में मूलगत ध्रुवता का कारण निषेध का तत्व है। यदि विषय और विषयी में पूर्ण पार्थक्य है तो ज्ञान या कर्म संभव नहीं है, अथवा किसी भी प्रकार की परात्परता संभव नहीं है। क्या सत्ता एक ऐसा द्वैत है जो असमाधेय है, जिसके एक ओर परिपूर्णता है और दूसरी ओर कोरा निषेध ? सार्त्र के दर्शन में ऐसी कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती है क्योंकि उनके अनुसार जो कुछ भी है, वह अस्तित्व है, सर्वत्र अस्तित्व ही है, हम स्वयं भी अस्तित्व हैं। न हमें जगत् की सत्ता सिद्ध करने की आवश्यकता है और न ज्ञान की प्रामाणिकता को सिद्ध करने की। ऐसे प्रयास निरर्थक होते हैं। मूलगत सत्य यह है कि अस्तित्व है और अस्तित्व को युक्तियों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है, इसका हम अनुभव करते हैं। जहाँ तक सार्त्र की ज्ञानमीमांसा की बात है, वह यथार्थवाद और प्रत्ययवाद के मध्य मँडराती है। क्योंकि एक ओर वे जगत् की वस्तुओं की चेतना से स्वतंत्र सत्ता मानते हैं और दूसरी ओर यह मानते हैं कि मानव-चेतना ही वस्तुओं को अर्थगर्भित करती है।

1. en-soi (being-in-itself) तथा pour-soi (being-for-itself)

सार्त्र अपने चिंतन का प्रारंभ चेतना या आत्मनिष्ठता से करते हैं। चेतना, उनके दर्शन में, अस्तित्व का महत्वपूर्ण अंश है। इसकी व्याख्या सार्त्र के अस्तित्ववाद की विशिष्टता है। चेतना असत् एवं 'पोर सोइ' है, इसका अपने से परे कोई संदर्भ नहीं है। चेतना विलक्षण ही है क्योंकि कहा जा सकता है 'चेतना है और नहीं भी है।' इसका कारण यह है कि चेतना वस्तुगत जगत् की अपेक्षा रखती है। मेरी चेतना अपने ही लिए विषय नहीं हो सकती, यह सदैव किसी के प्रति चेतना है। किसी के बारे में चेतन होने का अर्थ है किसी वस्तु के बारे में चेतन होने के प्रति संवित होना। चेतना वह सत्ता है जिसे हम भौतिक वस्तुओं से संबंधित करते हैं। वह चेतना जो वस्तु की चेतना नहीं है, अचिंत्य है अथवा वस्तु से भिन्न, अपने विशुद्ध रूप में, चेतना का अस्तित्व नहीं है। चेतना निषेध अथवा अभाव द्वारा व्यक्त होती है। चेतना उसकी ओर इंगित करती है जो वह नहीं है, और साथ ही, यह उससे अपने को अलग भी करती है। अतः चेतन होने का अभिप्राय है किसी वस्तु या विषय से दूर होना और साथ ही स्वयं के लिए विद्यमान होना। यह दूरी सत्ता नहीं है, सत्ता का अभाव है। सत्ता स्वयं में अचेतन हैं, और कोई कारण नहीं है कि वह अपना निषेध करे तथा चेतन हो जाए। चेतना एक आकस्मिक तथ्य[1]। है।[2]

चेतना किसी वस्तु की चेतना के रूप में अस्तित्ववान् होती है और वह इस चेतना की संविति से युक्त भी होती है। उदाहरणार्थ मैं सचेत हूँ कि मैं दर्जी हूँ क्योंकि मैं पूर्णतः एवं मात्र दर्जी नहीं हूँ। मैं अपने अस्तित्व को दर्जी से भिन्न होने पर पाता हूँ। मैं 'सत्ता स्वयं में' नहीं हूँ, किन्तु 'सत्ता स्वयं में' होने के कारण 'सत्ता अपने लिए हूँ'। मैं 'सत्ता स्वयं में' को अपने ऊपर आरोपित करने का, उसे पूर्णतः आत्मसात् करने का प्रयास करता हूँ, तथा उससे बिना विभाजित हुए उसे अपनी चेतना बना लेता हूँ। पर ऐसा मैं पूर्णतः नहीं कर पाता हूँ। 'सत्ता स्वयं में' पर 'सत्ता अपने लिए' की यह निर्भरता उसकी तथ्यात्मकता है। वह अपने को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। उसको अपनी ही अनस्तित्वता का बोध होता है।

'सत्ता स्वयं में' का एकमात्र गुण अस्तित्व है। वह स्वयं में है, अपने में है, यह एक संभावना नहीं है। सार्त्र उन सभी वस्तुओं के अस्तित्व को मानते हैं जो चेतना के संपर्क में आती है। यह 'सत्ता स्वयं में' सत् है, आत्म-समरूप तथा अपारदर्शी है, 'ऐब्सर्ड' है। 'सत्ता स्वयं में' को वे एक परिपूर्ण मानते हैं। यह परिपूर्ण शक्तिविहीन है। इसकी कोई आंतरिक संरचना नहीं है और न इसमें कारण-संबंधी क्षमताएँ ही हैं। अतः कोई

1. Contingent fact.

2. सार्त्र के दर्शन में हीगेल की भाँति 'पोर सोइ' 'एन सोइ' में निहित नहीं है, वह एक मूलगत किंतु आकस्मिक अभिव्यक्ति है।

शाश्वत नियम नहीं है। प्रकृति कार्य-करण के अनिवार्य नियम से शासित नहीं है। सर्वत्र निरर्थकता है। परिपूर्ण न तो क्रिया कर सकता है और न किसी का आधार ही हो सकता है। अपने से परे के साथ इसका कोई वास्तविक संबंध भी नहीं है। अतः वस्तुएँ जैसी हैं, उससे भिन्न नहीं हो सकतीं। 'सत्ता स्वयं में' बिना किसी कारण अथवा दूसरे से बिना किसी संबंध के है; यह अजन्मा, असंगठित और अनियमित है, सदा से अवांछनीय है। हम इसमें जो नियम देखते हैं वे मनुष्य द्वारा आरोपित हैं, अथवा मनुष्य द्वारा आविष्कृत वैज्ञानिक नियम जगत् में नहीं हैं। जगत् को, इस कारण, सार्त्र बोधगम्य नहीं मानते हैं। वे इसे 'ऐब्सर्ड' कहते हैं। स्पष्ट ही 'सत्ता स्वयं में' बुद्धि तथा मानव-मूल्यों से रहित है, यह अमानवीय है, मानव-मूल्यों और मानव सुख-दुःख के प्रति तटस्थ है। इस अमानवीय जगत् का कारण कोई चेतन स्रष्टा या ईश्वर नहीं है। यह जगत् अकारण अथवा अहेतुक है।

चेतना का जगत् से निगमन नहीं किया जा सकता, वह स्वतंत्र और आत्म-पर्याप्त है। पर जगत् का चेतना से निगमन किया जा सकता है। इसका कारण यह नहीं है कि चेतना जगत् से पूर्व और स्वतंत्र है, वरन् यह है कि चेतना जगत् में नास्ति के रूप में आती है, यह अ-जगत्, अ-वस्तु, 'कुछ नहीं' के रूप में आती है। चेतना जगत् से परे नहीं है, वह वस्तुगत जगत् से संबन्धित है और उस पर निर्भर है। एक चिरस्थायी नास्ति एवं एक विशुद्ध संभावना के रूप में, जो प्रत्येक अस्तित्ववान् से भिन्न है, चेतना अपने बारे में भी सचेत है। स्पष्ट ही चेतना निषेध या नास्ति द्वारा व्यक्त होती है। यह सत्ता का वह रूप है जो अपने से भिन्न सत्ता के रूप की अपेक्षा रखता है। यह सत्ता का वह प्रकार है जिसके बारे में सार्त्र का कहना है, "जिसे अभी वह होना है जो यह है अथवा वह जो यह नहीं है।" इसलिए मैं अधूरेपन को अपनाए हुए हूँ और इस चिंता से त्रस्त हूँ कि अपने अधूरेपन को कैसे समाप्त करूँ तथा उस निस्तब्ध के प्राचुर्य को कैसे प्राप्त कर लूँ जो सत्ता अपने में है। सार्त्र का कहना है कि मैं या मानव मात्र सत्ता अपने लिए है, वह पहले सत्ता अपने में ही था, बाद को वह सत्ता अपने लिये के रूप में आया। पर, इसका क्या कारण है ? सार्त्र के अनुसार जब मैं आया तो मैंने अपने को दुनिया में पड़ा हुआ, फेंका हुआ पाया। अन्य मानवों के लिए भी मानना होगा कि उन्होंने दुनिया अथवा परिस्थिति में अपने को पड़ा हुआ पाया। मानवों को बनी-बनाई दुनिया मिली है। दुनिया क्यों है ? यह कहाँ से आई है ? इन प्रश्नों का उत्तर संभव नहीं है। इसी भाँति चेतनाओं की अनेकता को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं कि इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। यह अपने आप में स्पष्ट है—मेरी

चेतना मुझे सचेत करती है कि दूसरों के लिए मैं विषय हूँ। मेरी यह विषयनिष्ठता अन्य चेतनाओं के अस्तित्व को लक्षित करती है। अतः अनेक चेतनाएँ हैं और दुनिया है। दुनिया मानव को मिली है। उसका होना मेरे होने की शर्त है। यदि 'सत्ता स्वयं में' न होती तो 'सत्ता अपने लिए' का कोई अर्थ नहीं होता। मानव का होना सत्ता स्वयं में के भीतर दरार का प्रतीक है। इस दरार के कारण सत्ता स्वयं में और सत्ता अपने लिए एक-दूसरे से बिछुड़ गए हैं। इनमें वियोग होना ही मानव का होना है, उस दुनिया में होना है जो पहले से बनी हुई है, सजी-सजाई है।

सत्ता एवं मानव अपने लिए अपने अधूरेपन की पूर्ति करने के अभिप्राय से उन योजनाओं को बनाता है जो उसे 'सत्ता स्वयं में' की भाँति पूरा बना दे। यह उस दरार को जोड़ने का प्रयास करता है जिसने उसे 'सत्ता स्वयं में' से पृथक् कर दिया है। इसलिए वह 'पोर-सोइ-एन-सोइ'[1] को प्राप्त करने की अभीप्सा रखता है।[2] अतः मानव-जीवन 'पोर सोइ' और 'एन सोइ' की एकता को प्राप्त करने के लिए एक अनवरत प्रयास है। यह वह एकता है जो आभ्यंतरिक रूप से अप्राप्य होने पर भी मानव-ज्ञान, चयन और कर्म की अनिवार्य स्थिति को निर्धारित करती है।

स्वतंत्रता और परिस्थिति

मानव के अधूरेपन एवं उसकी योजनाओं के विवेचन में दो बातों को महत्व देना होगा—स्वतंत्रता और तथ्यात्मकता। इनसे युक्त है निषेध की धारणा। निषेध की धारणा एक प्रमुख धारणा है क्योंकि यह अन्य दो धारणाओं—स्वतंत्रता और तथ्यात्मकता—में निहित है। यह तनाव, अलगाव तथा हताशा की उन समस्त भावनाओं का कारण है जो मानव-अस्तित्व के लक्षण हैं। यही मनुष्य की स्वतंत्रता के लिए भी उत्तरदायी है। स्वतंत्रता तथ्यात्मकता एवं परिस्थिति की अपेक्षा रखती है क्योंकि बिना परिस्थिति के स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है। अथवा दोनों ही एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं, क्योंकि यदि मैं एक परिस्थिति-विशेष में, जो कि दुनिया है, न आ गिरता तो मेरी सत्ता का अपने लिए कोई अर्थ न होता। सार्त्र परिस्थिति एवं इस लौकिक वातावरण को तथ्यात्मकता (Facticity) कहते हैं। वे मानते हैं कि तथ्यात्मकता से घिरा हुआ मानव अपने घेराव को तोड़ने की चेष्टा करता है। वास्तव में उसकी इस चेष्टा के अविरल प्रवाह ही का नाम मानव है। वह इस घेरे को तोड़ नहीं पाता है। यदि घेरे को वह तोड़ सकता या उसका अतिक्रमण कर पाता तो वह ईश्वर हो जाता। ईश्वर 'सत्ता स्वयं में' तथा 'सत्ता अपने लिए' का एकरूप एवं एकरस हो जाना है। इस स्थिति में सत्ता अपने लिए सत्ता

1. Being -in-and -for-itself.

2. यह अभीप्सा विरोधपूर्ण है क्योंकि जो स्वयं में है, वह अपने से परे नहीं हो सकता। अतः हम अंतहीन खोज करने के लिए अभिशप्त हैं और हमारी चेतना एक मूलगत रोग से पीड़ित एवं दग्ध है —'मनुष्य पीड़ा है।'

स्वयं में हो जाती है। किंतु यह संभव नहीं है। अथवा पोर-सोइ-एन-सोइ के प्रत्यय को जब अनंतता, ईश्वर तक, उन्नत कर देते है, तब ईश्वर का प्रत्यय असीम, व्यक्तिगत परम का प्रत्यय है। यह असीम पोर-सोइ-एन-सोइ एवं असीम चेतन आत्म-तादात्म्य का प्रत्यय है। किन्तु यह प्रत्यय आत्म-विरोधी है क्योंकि चेतना आत्म-तादात्म्य का बहिष्कार करती है। और आत्म-तादात्म्य चेतना का बहिष्कार करता है। अतः हम ईश्वर को स्वीकार नहीं कर सकते हैं। सार्त्र के अनुसार मात्र यह ही सत्य नहीं है कि तथ्यात्मक दृष्टि से ईश्वर का अस्तित्व नहीं है, वरन् ईश्वर हो ही नहीं सकता। ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना एक आत्म-विरोधी तर्कवाक्य को निरूपित करना है। इसलिए ईश्वर की खोज करने वाले व्यक्ति की नियति केवल हताशा है। फिर भी वे मानते हैं कि मनुष्य ईश्वर होने की अभीप्सा रखते हैं और ईश्वर उनके लिए वह निरपेक्ष मूल्य है जो उनके जीवन को प्रेरित और शासित करता है।

अनीश्वरवादी अस्तित्ववादी होने के मानव की स्वतंत्रता को महत्व देते हुए सार्त्र कहते हैं कि सत्ता अपने लिए के कारण मानव स्वतंत्र है और सत्ता स्वयं में न होने के कारण वह अपूर्ण अथवा अधूरा है। फिर वह क्या है? वह कुछ नहीं (Nothing) है। किन्तु उसके कुछ-नहीं होने का अर्थ यह नहीं है कि वह है ही नहीं। वह है और उसका अस्तित्व कालिक है। वह ऐसा वर्तमान है जो भूत के बोझ से युक्त है और भविष्य में अपनी पूर्णता—मनोकामना की पूर्ति—देखता है। उसका भूत जो विगत हो चुका है, सत्ता स्वयं में के ढंग का है, पर वह तो सत्ता अपने लिए है। इसलिए वह विगत नहीं है। किन्तु फिर भी, वह अपने को एक ऐसी संधि के रूप में देखता है जो भविष्य में अपने विस्तार की चिन्ता से युक्त है। भविष्य वर्तमान नहीं है, उसे तो अभी आना है। अतः मानव 'कुछ नहीं' है।

सार्त्र का अनीश्वरवादी मानववाद अस्तित्ववाद है। वे मानते हैं कि मानव की स्वतंत्रता ही उसकी मानवता है। बिना स्वतंत्रता के मानव मानव नहीं है। ईश्वर बनने में, यदि वह बन सकता तो, यह खतरा है कि तब वह मानव नहीं रह पाएगा। और यदि वह मानव नहीं रहा तो वह स्वतंत्रता खो बैठेगा। वह सत्ता स्वयं में स्थित-वस्तु बन जाएगा, पत्थर हो जाएगा, उसकी मानव-निधि समाप्त हो जाएगी। इस कारण वे मानते हैं कि चेतन व्यक्ति होने के कारण मेरा—मानव—अस्तित्व सत्ता स्वयं में बंदी होकर नहीं रह सकता है। अपने कर्मों तथा चेतना में मैं अपनी सत्ता से टूट जाता हूँ। इसी टूटी स्थिति में मेरा अस्तित्व रहता है। यही परात्परता या स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता एक संदिग्ध उपलब्धि नहीं है। यह मेरी सत्ता की अनिवार्यता है क्योंकि मानव की सत्ता और उसकी स्वतंत्रता एक ही है। वह मानते हैं कि मानव परम रूप से स्वतंत्र है और वह अपने आपको वह बनाता है जो वह वास्तव में है अथवा मनुष्य

आजीवन—मृत्यु-पर्यन्त—अपने को वह बनाने का प्रयास करता है जो वह हो सकता है। उसकी सत्ता को समझने के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। अपनी सभी स्थितियों के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है। वह अपने मूल्यों का निर्माता है। सार्त्र उन निरीश्वर-वादियों के आलोचक हैं जो वस्तुगत मूल्यों को मानते हैं। उनका निरीश्वरवाद एवं स्वतंत्रतावाद वस्तुगत मूल्यों या शाश्वत प्रत्यय का निराकरण करता है। यदि ईश्वर नहीं है, दिव्य चैतन्य नहीं है तो न तो सार्वभौम अनिवार्य नैतिक नियम हैं और न वस्तुगत निरपेक्ष मूल्य ही हैं। मनुष्य ही मूल्यों का मूल केन्द्र है। जिस प्रकार मैं अपने आपको बनाता हूँ, उसी प्रकार मैं अपने स्वतंत्र वरण द्वारा अपने मूल्यों का चयन या निर्माण कर सकता हूँ। इस संसार में मानव-चेतना ही मानव-मूल्यों को बना सकती है। मनुष्य की स्वतंत्रता अबाधित है क्योंकि ऐसा कोई भी निर्धारित मूल्य या नियम नहीं हैं जिसके अनुरूप उसे कर्म करना ही चाहिए। इस दृष्टि से जब जगत् को देखते हैं तो वह एक निर्जीव मृत जगत् लगता है—मिथ्या धारणाओं और जर्जर परम्पराओं को ढोने वाला जगत्। इसलिए स्वतंत्रता का अर्थ है इस जगत् से पूर्ण अलगाव : जो कुछ है या जो था से अलग हो जाना। इस अलगाव द्वारा ही हम नए का अभिनन्दन कर सकते हैं, नए का आह्वान ही जीवन एवं स्वतंत्रता का अर्थ है।

स्वतंत्रता सार्त्र के चिंतन का मुख्य बिन्दु है क्योंकि मनुष्य का अस्तित्व स्वतंत्रता के साथ अभिन्न है, यह उसकी संरचना में निहित है। अतः मनुष्य की स्वतंत्रता परम है। मनुष्य और उसकी स्वतंत्रता में विशेष्य और विशेषण का संबंध नहीं है। मानव के संदर्भ में अस्तित्व और सारतत्व के भेद पर प्रकाश डालते हुए वे समझाते हैं कि विषय जगत् की संज्ञाएँ अपने सारतत्व के माध्यम से जानी जाती हैं क्योंकि उनके अस्तित्व को उनका सारतत्व निर्धारित करता है अथवा उनका सारतत्व उनके अस्तित्व के पहले है। परन्तु मानव या मूर्त मानव व्यक्तित्व का अस्तित्व उसके सारतत्व के पहले है, अर्थात् मानव कुछ भी होने के लिए स्वतंत्र है। उसकी स्वतंत्रता ही उसका लक्षण है। इस कारण स्वतंत्रता उसका गुण या सारतत्व नहीं है, यह उसका अस्तित्व है एवं मानवस्वतंत्रता। वह स्वतंत्रता का अवतार है। इसलिए वह स्वयं भी अपनी स्वतंत्रता को मिटा नहीं सकता है। मानव को समझने के लिए उसकी स्वतंत्रता को समझना होगा। उसका बाहर से निरूपण करना उसकी स्वतंत्रता को नष्ट करना है।

मानव की स्वतंत्रता को समझने के लिए सार्त्र द्वारा विवेचित अस्तित्व के रूपों—पोर सोइ तथा एन सोइ—को ध्यान में रखना होगा। उसी संदर्भ में वे कहते हैं कि मनुष्य चेतन प्राणी होने के कारण 'एन सोइ' का ही जीवन नहीं जी सकता। वह 'सत्ता स्वयं में' बंदी नहीं हो सकता। 'सत्ता स्वयं में' के जगत् में खो जाना, वस्तु की भाँति हो जाना 'सत्ता अपने लिए' की मृत्यु है। 'सत्ता स्वयं में' से अलग होकर ही मनुष्य अपने

अस्तित्व और स्वतंत्रता को सार्थक करता है। स्वतंत्रता मानव-सत्ता की अनिवार्यता है, इसलिए वह किसी भी सार्वभौम नैतिक नियत की अधीनता स्वीकार नहीं कर सकता है। स्वतंत्रता मनुष्य को उत्तरदायित्व से युक्त करती है। वह अपने स्वतंत्र रूप से वरण किए हुए आदर्शों के लिए उत्तरदायी है, वह अपने कर्मों के दायित्व से मुक्त नहीं हो सकता। सार्त्र विरोधाभासपूर्वक कहते हैं, "मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है।" स्वतंत्रता दायित्व से युक्त है और यह दायित्व एक व्यापक दायित्व है क्योंकि वरण करने में मैं समस्त जगत् के लिए विधि निर्माण करता हूँ। मैं उसी का वरण कर सकता हूँ जो न केवल मेरे लिए, वरन् जगत् के सभी व्यक्तियों के लिए अच्छा है। मेरे आदर्श जिन्हें प्रभावित करते हैं, मैं उन सबके लिए उत्तरदायी हूँ। उत्तरदायित्व की यह चेतना मुझे उदास कर देती है।

स्वतंत्रता से सार्त्र का क्या अभिप्राय है? क्या यह इच्छा की स्वतंत्रता है? सार्त्र इच्छा की स्वतंत्रता से स्वतंत्रता की धारणा को युक्त नहीं करते हैं। वे स्वतंत्रता को तथ्यात्मकता एवं परिस्थिति के आधार पर समझाते हैं। यदि तथ्यात्मकता न हो तो स्वतंत्रता या मानव कुम्हला जाएगा। मेरी स्थिति, मेरा विगत, मेरा परिवेश, मेरे साथी, मेरी मृत्यु—यह सब मेरी तथ्यात्मकता को निर्धारित करते हैं। यही परिस्थिति मेरी स्वतंत्रता को संभावना प्रदान करती है। अथवा परिस्थिति वह है जिसमें स्वतंत्रता जन्म लेती है, पनपती है। इसलिए तथ्यात्मकता स्वतंत्रता को समाप्त नहीं करती है, वरन् उसे प्रश्रय देती है। स्वतंत्रता उच्छृङ्खलता का पर्यायवाची भी नहीं है क्योंकि यह दायित्व से युक्त है। स्वतंत्र होने के कारण मैं अपने सभी कर्मों के लिए उत्तरदायी हूँ। केवल अपनी स्वतंत्रता के लिए उत्तरदायी नहीं हूँ, अथवा मैं स्वतंत्र रहने के लिए अभिशप्त हूँ। स्वतंत्रता का मेरे चाहने या न चाहने से कोई संबंध नहीं है। मैं स्वतंत्र हूँ ही, क्योंकि मानव की स्वतंत्रता और उसकी सत्ता एक ही हैं—स्वतंत्रता मानव-सत्ता की अनिवार्यता है।

दूसरा व्यक्ति

सार्त्र मानते हैं कि मानव जगत् में अकेला नहीं है। वह अपने-जैसे मानवों के बीच स्थित है। उसकी स्वतंत्रता उनसे आबद्ध है। व्यक्तियों और वस्तुओं के घेराव में रहने के कारण वह सीमित प्राणी है। प्रश्न यह है कि क्या वह इस घेराव या सीमा का अतिक्रमण कर सकता है? तब प्रश्न उठता है : उसका अन्य मानवों के साथ क्या संबंध है? सार्त्र के अनुसार मेरी मानवता मेरी स्वतंत्रता है जो या तो अपना बलिदान करती है और या दूसरों का बलिदान चाहती है। दूसरों की उपस्थिति को समझने के लिए हमें उन्हें मुख्यतः विषयी के रूप में जानना चाहिए, न कि मात्र विषयों के रूप में। पर जब मैं

दूसरे व्यक्ति को जानता हूँ, वह मेरे सम्मुख विषय हो जाता है। उसकी सत्ता को विषयी के रूप में समझने के लिए मुझे अपने आप को उसके विषय के रूप में प्रस्तुत करना होगा। किन्तु विषय होने का अर्थ है : 'निश्चल सत्ता अपने में।' इस स्थिति में होना स्वतंत्र विषयीनिष्ठता और गति से रहित होना है, अपने को खो देना है, अपना बलिदान करना है। ऐसी स्थिति में मैं अपने से अलग हो जाता हूँ। और यदि मैं दूसरे पर हावी हो जाता हूँ तो मैं उसे विषय बना देता हूँ। मानव का अस्तित्व विषयीनिष्ठता में है जिसे सार्त्र 'सत्ता अपने लिए' कहते हैं। परिणामतः अंतर-विषयीनिष्ठता की स्थिति वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति और व्यक्ति के मध्य सहज संप्रेषण एवं सहज संचार संभव नहीं है। सार्त्र के दर्शन में दूसरे व्यक्ति से अभिप्राय उस व्यक्ति से है जिसकी विषयीनिष्ठता मेरी विषयीनिष्ठता के लिए एक चुनौती है। दूसरा व्यक्ति वह है जो मुझे देख रहा है, घूर रहा है। अतः चेतना का विश्लेषण करते हुए वे कहते हैं कि दूसरा व्यक्ति इसलिए मुझे अपना प्रतिद्वंदी और शत्रु लगता है। मुझे सदैव यह सचेतनता रहती है कि दूसरा व्यक्ति मेरी स्वतंत्रता में बाधक है, वह मेरी स्वतंत्रता को सीमित कर रहा है। और तब मुझे लगने लगता है कि मैं उस जगत् में हूँ जो मेरा नहीं है। दूसरों (अन्य अस्तित्वों) के साथ मेरा सम्पर्क घृणा और प्रेम की डोरियों से आबद्ध हो जाता है। प्रेम में यदि मैं अपने प्रेमास्पद की स्वतंत्रता को अपने अधीन करना चाहता हूँ, या अपने से युक्त कर लेना चाहता हूँ तो मैं उसे अपनी स्वतंत्रता का उपभोग करने का अधिकार भी देता हूँ। किन्तु यह स्वतंत्रता शारीरिक संबंध से प्राप्त नहीं की जा सकती है, यह इससे परे की 'अतिक्रांत सत्ता' है। पर जब एक-दूसरे की स्वतंत्रता सहर्ष या स्वेच्छित रूप में प्राप्त नहीं होती है, तब अनेक प्रकार के संघर्ष उत्पन्न होते हैं। सबसे विकट संघर्ष तब उत्पन्न होता है जब व्यक्ति अपने आपको, अपने अस्तित्व को बचाना चाहता है। वह नहीं चाहता है कि उसका अस्तित्व दूसरों के लिए पदार्थ बने पर साथ ही वह यह प्रयास करता है कि अन्य सारे अस्तित्व उसके लिए पदार्थ बने रहें। यह स्थिति आत्म-वंचना की स्थिति तो है ही, यह घृणा को भी जन्म देती है। घृणा के कारण ऐसा अस्तित्व एवं व्यक्ति दूसरे की स्वतंत्रता एवं अस्तित्व को अपने अधीन न कर सकने के कारण उसका विनाश चाहता है, वह दूसरे की स्वतंत्रता को नहीं सह पाता है। अतः घृणा एक मलिन भाव है। समाज, समूह या झुण्ड के व्यक्ति की स्थिति भी दयनीय है। झुण्ड का दबाव और बंधन उसके उत्तरदायित्व और स्वतंत्रता का अपहरण कर लेते हैं। वह "अपने अनुत्तरदायित्वपूर्ण अकेलेपन तथा स्वतंत्रता के अभाव का विस्मरण कर पलायन का सुख पाता है।"

मूल्यांकन

सार्त्र का मानववादी अस्तित्ववाद मानव को उसकी स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्व के प्रति प्रबुद्ध करता है। मनुष्य भेड़-बकरियों-सा जीवन नहीं बिता सकता है। उसका

अस्तित्व, उसकी सत्ता नास्तिभाव से संयुक्त है। ऐसी स्थिति में उसे अपने मूल्यों और आदर्शों का स्वयं वरण करना है, उस उत्तरदायित्व और स्वतंत्रता को निभाना है जिसके प्रति वह प्रतिश्रुत है। आधुनिक युग के संकट को मनुष्य को उसके उचित ऐतिहासिक संदर्भ में समझना होगा, तभी वह अपने उस उत्तरदायित्व का सही अर्थों में निर्वाह कर सकेगा जिसका वरण करने में वह "समस्त जगत् के लिए विधि निर्माण करता है।"[1] सार्त्र मानव को, इस दृष्टि से, उसकी उचित वरण की शक्ति एवं स्वतंत्रता का ध्यान दिलाते हुए उसे उसकी मानवोचित गरिमा से युक्त कर देता है—मनुष्य को परिस्थिति के प्रवाह में असहाय तिनके-सा नहीं डूब जाना चाहिए, यह उसके लिए घातक है। यह उस स्वतंत्रता को भूल जाना है जो उसकी संरचना में निहित है। सार्त्र ने अपनी विचारधारा को तर्कों और युक्तियों से पुष्ट किया है। किन्तु जीवंत अथवा मूर्त मानव के संदर्भ में, हम सार्त्र के ही स्वर में कह सकते हैं कि जीवन और मूर्त परिस्थिति को तर्क पूर्णरूपेण प्रकाशित नहीं कर सकता है। सार्त्र के दर्शन में उसका यह कथन 'मानव स्वतंत्र रहने के लिए अभिशप्त है' जिस निराशावाद को परिलक्षित करता है, वह वांछनीय नहीं है। अच्छा तो यह होता कि भारतीय दार्शनिकों, मनीषियों और योगियों की भाँति वे स्वतंत्रता को मुक्ति एवं आनंद से युक्त कर देते। उस सर्वभूतान्तरात्मा की अनुभूति से युक्त कर देते जो मानव-कल्याण में आचरित होती है। मानव-स्वतंत्रता को दुःखपूर्णता या अभिशप्तता से युक्त कर देना उसके सच्चे अर्थ को भूल जाना है। मानव की स्वतंत्रता उसे प्राणिक-जैविक स्तर से ऊपर उठाती है और उसके उस बोध को जागृत करती जिसका इष्ट मानव-कल्याण-जनित आनन्द है अथवा मानव इसी अर्थ में स्वतंत्र है कि वह दुःख, त्रास, पीड़ा से ऊपर उठ सकता है। अतः स्वतन्त्रता यदि मानव-जीवन के दायित्व से युक्त कर आनंदमय बनाती है तो उसके लिए प्रसन्नता की बात है क्योंकि वह तब मानवता का जीवन जीता है। पर सार्त्र ने स्वतन्त्रता के नाम पर मानव-अस्तित्व को दुःखदग्ध कर दिया है और इसके मूल में है उनकी वह भूल जो प्राणिक-जैविक आवेगों, चंचल मानसिक स्थितियों को तात्विक सत्य मान लेती है। किसी व्यापक गहन तत्वदर्शन के अभाव में उनका मानववादी अस्तित्ववाद मानव-अस्तित्व को दयनीय बना देता है।

1 तुलना—कांट "इस भाँति कर्म करो कि तुम पूर्णता के सार्वजनिक राज्य में अपने सिद्धांतों द्वारा नियमों के विधायक बन सको।"